ओ३म्

आर्योदयकाव्यम्

उत्तरार्द्धम्

(भाषानुवादसहितम्)

प्रणेता—

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायः एम० ए०

प्रकाशकः

व्यवस्थापकः—कला प्रेस, इलाहाबाद

ओ३म्

अनुभूमिका

अस्मद्रचिदार्य्योदयकाव्यस्य पूर्वार्द्धे मुद्रिते प्रकाशिते च सति कतिपयमित्रैः समाचारपत्रैश्च प्रशस्तियुतसमीक्षां कृत्वाऽस्मभ्य-मातिशय्यपूर्णप्रोत्साहनं प्रदत्तमस्ति। तेन प्रेरिता वयं तत्काव्यस्यो-त्तरार्द्धमपि विद्वज्जनानां करकमलेषु समर्पयामः। आशास्महे यत् संस्कृतसाहित्यस्य सुशोभन आराम इयं नवीना कलिकापि किंचित्स्थानं प्राप्स्यति। संस्कृतभाषाया अति प्राचीनत्वाद् वैदिक्या भाषायाः समुद्भवत्वाच्चास्या गौरवं महीयः। संस्कृतभाषा सर्वासां भाषाणां जननीति वाङ्मयशास्त्रविदां निष्पन्ना सम्मतिः। वेद-वाणी तु संस्कृतस्यापि जननी, अतः तासां सर्वासां भाषाणां माता-मही। अतोऽस्माभिः समस्तैः संस्कृतभाषाप्रियैः जनैः वेदेभ्य शुभप्रेरणा ग्रहीतव्या। यथा "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः", तथैव संस्कृतसाहित्यप्रवर्द्धका अपि यज्ञमयीं पवित्रवेद-वाणीं तयैवश्रद्धया पश्येयुरित्यस्माकं मतम्। वेदानां बहवो शब्दाः प्रयोगाश्च लुप्ता, विस्मृतास्तथा मृता इव दृश्यन्ते। इयं महती क्षतिः। यथा मनुष्यकृता अनेकाः कृत्रिमाः सरितः भगवत्या जाह्नव्या मुख्यस्रोतसः सदैव नवीनं जीवनं गृह्णन्ति, तथैव मानव-कृत साहित्यमपि समस्तविद्याया एकमात्रस्रोतस वेदशब्दभाण्डा-गारेणानुप्राणितव्यम्। यथा सर्वे नक्षत्रा अजस्रं ज्योतिषामादि स्रोतोभ्यो रविरश्मिभ्यो ज्योतिर्मया भवन्ति तथैव भगवतो वेदात्

साहित्यविद्भिः प्रेरणा लभ्याः। यतः प्राचीना संस्कृतिर्विलुप्ता न भवेद्। वैदिकाः शब्दाः वैदिका उपमा, वैदिकी शैली, सर्वमिदमतिशोभनम्। नूतनैर्विद्वद्भिश्चानुकरणीयम्। अयं वैदिकः प्रयोगः। अयं लौकिकः। अयं भेदो न श्रेयस्करो भाषाया उन्नत्यै संस्कृतेरुन्नत्यै च। अरबी भाषायाः समस्तसाहित्यं मुहम्मदीयानां पवित्रपुस्तकात् कुरानाज्जीवनाऽमृतं प्राप्नोति। तथैवाङ्गलभाषाऽन्ययूरोपीयभाषाश्च ख्रीष्टमतानुयायिनां पवित्रपुस्तकागाद् बाइबिलाद् शब्दबाहुल्यं भावबाहुल्यं च प्राप्नुवन्ति। अस्माभिरपि तथैव कर्त्तव्यम्। येनास्माकं भाषा मृता न भवेत्। अतोऽस्मिन् काव्ये यत्र तत्र केचिद् वैदिकप्रयोगा भावाश्चास्माभिर्गृहीता दृश्यन्ते। तेषां संख्यात्वति न्यूना वर्तते। आशास्महे यदयं न दोष इति विद्वद्भिरुदारभावैर्मंस्यते। दयानन्द सरस्वतीमहर्षिणा सर्वथैव विस्मृतो वेदनिधिः पुनरुद्धृतो जगत्पुरःसरमानीतश्च। अयं तस्य महोपकारः। अनया दृष्ट्या भगवान् दयानन्दो नूतनयुगविधायकः प्राचीनयुगोद्धारकश्च। इयमेव सनातनी सरणी। अत्रैव नूतनत्वं प्राचीनत्वं च समन्विते भवतः। अस्मिन् काव्येऽपि सैव धारणा दृश्यते। स्खलनानि त्वत्र बहूनि जातानि। नूतनशैल्या आरंभ एवायम्। आशास्महे यत् संस्कृत-वर्द्धनप्रिया जना दोषान् प्रत्युपेक्षाभावं प्रदर्शयिष्यन्ति।

गंगाप्रसादोपाध्यायः

ओ३म्

आर्य्योदयकाव्यम्

उत्तरार्द्धम्

सूचीपत्रम्

ओ३म्

आर्याभिविनय: — अथार्योदय:

(उत्तरार्द्धम्)

अथैकादशः सर्गः

सविता* सुवति स्वधां सदा,
जगति प्राणभृतां कृते यतः ।
घटना नहि कापि वर्तते,
निहितं यत्र न तत् प्रयोजनम् ॥१॥

चूंकि संसार में प्रेरक प्रभु सदा स्वधा नामक प्रकृति को प्राणियों के हित के लिये ही प्रेरणा करता रहता है, अतः कोई ऐसी घटना नहीं है जिसमें यह प्रयोजन निहित न हो। (स्वधा—प्रकृति ऋग्वेद १०।१२९।२)

रविचन्द्रमसौ हि चक्षुषी,
रचयित्रा रचितौ न कामतः ।
सकलं य उ वेत्त्यलोचनः,
न हि नेत्रं स कदाप्यपेक्षते ॥२॥

---

*सविता प्रसविता प्रेरकः। (स्वधा-प्रकृति देखो ऋग्वेद १०।१२९।२)

रचनेवाले ने सूर्य्य और चन्द्र दो आँखें स्वार्थ के लिये नहीं बनाईं। जो विना आँख के जान लेता है उसको आँख की क्या जरूरत ?

धरणी सुदृढा वसुन्धरा,
जननी भूरुहगुल्मवीरुधाम्।
कुसुमानि फलान्यनेकशः,
न हि भोगाय विभोरजीजनत् ॥३॥

वसुओं को धारण करने वाली मजबूत पृथ्वी ने जो वृक्षों, गुल्मों और लताओं की जननी है, अनेक फल फूल ईश्वर के लिये नहीं बनाये।

गगणं गगणध्वजास्पदं,
गहनं कल्पनतोप्यगोचरम्।
विभुवत् विभु विश्वतस्ततं,
जनितं स्वार्थ वशान्न शंभुना ॥४॥

सूर्य्य वाला आकाश, जिसका वैभव कल्पना में भी नहीं आ सकता। जो ईश्वर के समान संसार में विभु है उसे ईश्वर ने स्वार्थ के लिये नहीं बनाया।

गिरिराज विशालशृंखलां,
जलमुक्क्रीडनमंजुलस्थलीम् ।
तटिनी नदनिर्झरोद्गमां,
सृजति स्वात्महिताय न प्रभुः ॥५॥

पर्वतों की विशाल श्रेणियाँ जिन पर बादल खेला करते हैं नदी, नद, और झरने जहाँ से निकलते हैं। यह पर्वत ईश्वर ने अपने लिये नहीं बनाये।

उदधिं पृथिवीरसाकरं,
निलयं नक्रझषादिजीविनाम् ।
विविधोज्ज्वलरत्नसंचयं,
निज भोगाय चकार नेश्वरः ॥६॥

पृथिवी का रस जल* है। इस जल की खान है समुद्र जिसमें मछली आदि के प्राणी रहते हैं। और जो मनुष्यों के प्रिय रत्नों का भण्डार है। इस समुद्र को ईश्वर ने अपने लिये नहीं बनाया।

परिपूर्णतया प्रजापते-
र्जगतो सृष्टिरभून्न तत्कृते ।
जनको न सुतस्य पालने,
कुरुते किंचन कर्म लोभतः ॥७॥

---

* पृथिव्या आपोरसः (छान्दोग्य उपनिषद् १।१।२)

ईश्वर पूर्ण है। इसलिये सृष्टि उसके लिये नहीं बनी।
पिता पुत्र के पालन में कोई लोभ नहीं करता।

जगति प्रगतिप्रसारणम्,
अपवादेन विना समग्रतः।
लघु वा गुरु वाऽथ मध्यमं,
कुरुते जीवहिते जगत्पतिः ॥८॥

बिना किसी अपवाद के संसार में सब छोटी बड़ी या मध्यम प्रगतियाँ ईश्वर जीव के लिये ही करता है।

न भवेद् यदि कोपि चेतनः,
अमरोनित्य उताल्प बुद्धिमान्।
कथमेव ततः प्रसिध्यतां,
रचनाया जगतः प्रयोजनम् ॥९॥

यदि कोई अमर, नित्य अल्प और बुद्धिवाला चेतन जीव न होता तो जगत् की रचना का प्रयोजन कैसे सिद्ध होता।

अखिलं जडमेव चेद् भवेत्,
न च जीवो न च वा चिदीश्वरः।
तत एवं स एव प्रश्नकः,
जडवस्तूनि दधुर्न कामनाम् ॥१०॥

यदि सब जड़ ही जड़ हो, कोई न चेतन जीव हो, न चेतन ईश्वर, तब भी वही प्रश्न बना रहता है। जड़ वस्तुओं में तो इच्छा नहीं होती।

स हि कृत् जगतो जगत्पतिः,
अविकारी च निरंजनो विभुः।
सृजति प्रकृतेस्तथा जगत्,
घटकारो हि घटं यथा मृदः ॥११॥

लोकों के उत्पादक ईश्वर ने जो विकार रहित, निरंजन और विभु है, प्रकृति रूपी कारण से संसार बनाया जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है।

पुरुषा अमरा अजा बुधा,
बत जाता विषयार्पितान्तराः।
हितभावनया शरीरिणां,
विधिना सर्वमिदं विधीयते ॥१२॥

अमर अजर और चेतन पुरुष भोग चाहते हैं। उन्हीं चेतनों के हित के लिये विधाता सब जगत् के नियम बनाता है।

सुखदुःख समन्वितं जगत्,
विकृतं प्राणि समूहकर्मभिः ।
जगदीशवशेऽप्यपेक्षते,
प्रगतिं प्राणभृतां निरन्तरम् ॥१३॥

सुख और दुख से मिले हुये जगत् में प्राणियों के कामों से विकार होता है। यद्यपि यह ईश्वर के वश में है तो भी मनुष्यों की कर्म की इसमें नित्य जरूरत रहती है।

भवकर्तृ कृतेषु वस्तुषु,
मनुजेनापि कृता बृहत्तरा ।
भवभूषणदृष्टितोऽथवा,
परिवृद्धिर्निजभोग हेतुका ॥१४॥

संसार के उत्पादक की बनाई वस्तुओं में मनुष्य ने भी संसार को सजाने के लिये और अपने भोगों के लिये वृद्धि की है।

अवलोक्य विधातृजोद्भिजान्,
अनुकुर्वन्ति कृषिं कृषीवलाः ।
वसुधाधरकन्दरास्तथा,
गृहनिर्माण-कलापदेशकाः ॥१५॥

विधाता के पैदा किये वृक्षों को देखकर ही किसान खेती करते हैं। पहाड़ों की गुफाओं को देखकर लोग घर बनाते हैं।

नगराणि महान्ति भूतले,
पुरुषार्थेन नरेण चक्रिरे।
श्रमबुद्धिपराक्रमान्विता
मनुजस्यैव ततो बृहच्छविः ॥१६॥

मनुष्य ने पुरुषार्थ करके ही जमीन पर बड़े नगर बसाये। संसार की शोभा मनुष्य के ही परिश्रम, बुद्धि और पराक्रम का फल है।

कुरुते मनुजो यदा यदा,
जगदाधारकृतौ प्रवर्धनम्।
लभते कृपया जगत्पतेः,
सुख सम्पत्तिविकाससम्पदम् ॥१७॥

जब जब मनुष्य ईश्वर की कृति में वृद्धि करता है तभी ईश्वर की कृपा से उसे सुख, सम्पत्ति, विकाश की सम्पत्ति प्राप्त होती है।

अलसो यदि कर्म शृंखलां,
जडवन्मुंचति जामिदोषतः ।
परमेशदया-विवर्जितः,
क्रमशः सैति पशुत्वमन्ततः ॥१८॥

यदि आलसी होकर जड़ वस्तु के समान कर्म की शृंखला को छोड़ देता है तो ईश्वर की दया से वंचित होकर अन्त को पशु बन जाता है ।

अतएव बुधः सदा भवेत्,
निजकर्तव्यपरायणः शुचिः ।
चरतीति चरः प्रसिद्ध्यते,
नहि सृष्टावलसस्य संस्थितिः ॥१९॥

इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि अपने कर्त्तव्य को करता रहे । और पवित्र रहे । जो काम करता है वही चर कहलाता है । सृष्टि में आलसी का गुजारा नहीं ।

भजनं कुरुते स हि प्रभोः,
य उ तद्वत् कुरुते परिष्क्रियाम् ।
अलसो नहि भक्तिभाजनं,
न च तस्मात् स विभुः प्रसीदति ॥२०॥

प्रभु का भजन वही करता है जो उसके से काम करे। आलसी भक्ति नहीं कर सकता और प्रभु उससे प्रसन्न नहीं होता।

निगमागमसंस्कृतैः पुरा,
पितृभिश्चित्रतमा समुन्नतिः।
पुरुषार्थपरैर्महाशयै·
रुपकाराय कृता जनुष्मताम् ॥२१॥

वैदिक शिक्षा से संस्कृत पुरुषार्थ करने वाले महाशय बुजुर्गों ने पहले संसार के लोगों के उपकार के लिये विचित्र उन्नति की थी।

पृथिवीतलवर्तिनो नराः,
प्रभुसृष्टेरुपभोगयोजनाम्।
तपसा च दमेन विद्यया,
व्यदधुर्यमचतुष्टयाश्रिताः ॥२२॥

पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों ने तप दम विद्या के बल से धर्म अर्थ काम मोक्ष के आश्रित होकर प्रभु की सृष्टि को भोगने की योजना बनाई।

सुखशान्तिविकाससंयुतं,
सुजनैर्यापितमात्मजीवनम् ।
अगमन् खलु सर्वशक्तयः,
परिपूर्णत्वमशेषतां नृणाम् ॥२३॥

अच्छे लोग सुख शान्ति और विकास का जीवन व्यतीत करते थे । आदमियों की सभी शक्तियाँ विकसित होती थीं ।

शुभकर्म तपश्च सत्पथं,
मुमुचुर्भारतवासिनः शनैः ।
फलतः सकलश्च संपदः,
क्रमशः पुण्यभुवो विनिर्ययुः ॥२४॥

भारतवासियों ने शनैः शनैः शुभकर्म, तप और सत्पथ को छोड़ दिया । इसलिये सब संपदायें क्रमशः इस पुण्यभूमि से चली गई ।

धन-शक्तियशः—स्वतन्त्रता,
विनयं बुद्धिकुशाग्रता नयः ।
निवसन्ति न तत्र कर्हिचित्,
पुरुषा यत्र पुमर्थदुःस्थिताः ॥२५॥

धन, शक्ति, स्वतंत्रता, विनय, बुद्धि की तेजी, नय, यह सब गुण वहाँ नहीं रहते। जहाँ लोग पुरुषार्थी नहीं होते।

युगचक्र कृता समुन्नतिः,
क्षितिजस्योपरि चांशुमालिवत्।
क्रमशो नयतिस्म भारतात्,
इतरद्धाम सुभाग्यसंपदम् ॥२६॥

युगों के चक्र से उत्पन्न होने वाली उन्नति ने क्रमशः भारतवर्ष से दूसरे देशों को कूच कर दिया। जैसे सूर्य आकाश में अपनी जगह बदलता रहता है।

पतनं प्रथमं स्वधर्मतः,
कलहः स्वात्मजनेषु तत्परम्।
असुरत्वगुणानुगाः सुरा,
अभवन् भारतवासिनाऽधुना ॥२७॥

पहले धर्म से पतित हुये। फिर आपस में लड़ाई हुई। अब भारत के सुरों असुरों के गुण आ गये।

अवलोक्य च देशदुर्दशां,
रिपवः पार्श्वधराधरा भृशम्।
अधिगन्तुमलौकिकीं महीं,
कृतवन्तः प्रतिपक्षधृष्टताम् ॥२८॥

जब पड़ोस के शत्रु राजाओं ने देश की दुर्दशा देखी तो इस अलौकिक भूमि को जबरदस्ती लेने के लिये शत्रुओं की सी धृष्टता करने लगे।

शनकैः शनकैः करे रिपोः,
पतिता स्वर्गसमा वसुन्धरा।
परदास्यसमुद्रमज्जिता
हतभाग्या गतभा तिरस्कृता ॥२९॥

शनैः शनैः यह स्वर्ग के समान भूमि शत्रु के हाथ पड़ गई। और अभागी, ज्योति शून्य तक तिरस्कृत होकर गुलामी के समुद्र में डूब गई।

शतकानि बहूनि भारतं,
श्रुतिहीनत्वतमिस्रयावृतम्।
अनृतादिविदूषणाहत,
नयते जीवनशून्यजीवनम् ॥३०॥

वेद विरुद्ध अंधकार में आच्छादित भारतवर्ष सैकड़ों वर्षों तक झूठ आदि दुर्गुणों से दूषित जीवन-शून्य जीवन को व्यतीत करता रहा।

दयनीय दशां दयार्द्रिता,
ददृशुर्देशजदिव्यदृष्टयः ।
अवशेषमपूर्वसंस्कृते-
रवितुं चात्मविदः प्रयेतिरे ॥३१॥

देश के दयालु दिव्यदृष्टि वाले बड़े आदमियों ने देश की दयनीय दशा देखी । और यह आत्मविद्या के जानने वाले बची हुई संस्कृति को बचाने के लिये प्रयत्न भी करते रहे ।

बहुधा बहुभिर्महात्मभि-
र्यतितं भारतभूमि रक्षणे ।
विधिवामगतिप्रभावतः,
नहि साफल्यमवाप कश्चन ॥३२॥

भारत भूमि की रक्षा के लिये बहुत वार बहुत से महात्माओं ने कोशिश की। परन्तु टेढ़ी तकदीर की गति के प्रभाव से कोई सफल न हो सका ।

इत्यार्योदयकाव्ये 'सृष्टिप्रयोजनं" नामैकादशः सर्गः ॥

अथ द्वादशः सर्गः

अथार्यजातेरवशिष्ट कीर्तिं,
क्वचित्प्रणष्टां क्वचिदर्ध लुप्ताम् ।
पुनः समुद्धर्तु मनन्तनाशा-
दभूद् दयानन्दमहर्षिजन्म ॥१॥

अब आर्य जाति की बचीकुची कीर्ति को जो कहीं सर्वथा और कहीं कुछ कुछ नष्ट हो चुकी थी हमेशा के नाश से बचाने के लिये महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ।

अस्ति प्रतीच्यां दिशि सिन्धु पार्श्वे,
ख्याते शुभे गुर्जरभूमिभागे ।
सा काठियावाड़लघुप्रदेशे,
मौर्वीति मायाः किलशोभनोर्वी ॥२॥

पश्चिम दिशा में समुद्र के पास गुजरात की पुण्य भूमि में काठियावाड़ के छोटे से प्रान्त में मोर्वी नाम का स्थान है जो वस्तुतः मा अर्थात् लक्ष्मी की सुन्दर उर्वी अर्थात् भूमि है। (मा० लक्ष्मीस्तस्या माया उर्वी मोर्वी)

"मच्छू" स्रवन्तीविमलाम्बुधारा,
सिंचत्यजस्रं मधुरां धरां ताम्।
यत्रत्यवाताम्भ्वशनप्रभावा-
द्धृष्टाश्च पुष्टाश्च नराः समेऽपि ॥३॥

उस मधुर भूमि को मच्छू नदी की विमल धारा नित्य सींचती है। वायु, जल, अन्न के शुभ प्रसाद से यहाँ के सभी नर हृष्ट पुष्ट होते हैं।

सौम्या दृढांगाः सितभालपट्टा,
विशालवक्षस्थलतुंगदेहाः।
उद्योगिनो धर्मदयानुरक्ता,
भवन्त्यमी गुर्जर देशमर्त्याः ॥४॥

यहाँ के गुजराती लोग सौम्य, मजबूत, गोरे, चौड़ी छाती के, लम्बे कद के उद्योगी, धर्मात्मा, दयालु, होते हैं।

तत्राग्रहारो भुवनैकहारः,
टंकार नामा प्रथते महीयान्।
यो लीलया लोकनियन्तुरेव,
जगत्प्रसिद्धेर्विषयो बभूव ॥५॥

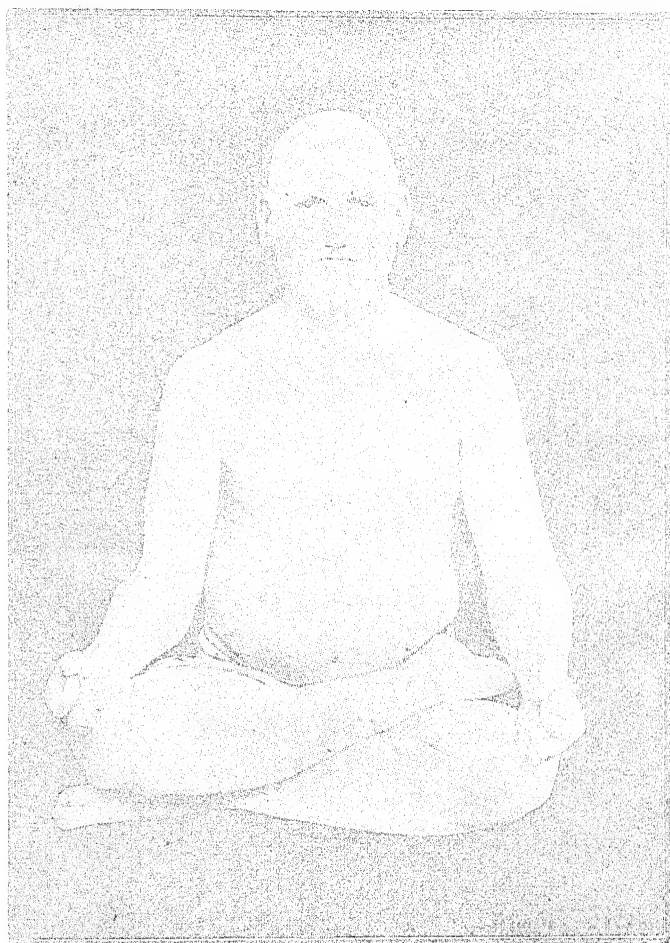
वहीं निकट में संसार के द्वार के समान टंकारा गांव है जो लोकों के नियन्ता ईश्वर की लीला से जगत् में प्रसिद्धि का विषय हो गया।

गुरुर्लघुत्वं च लघुर्गुरुत्वं,
यातीतिनित्यो नियमोऽस्ति सृष्टेः।
क्षुद्रात्प्रभुर्वस्तुन आमिमीते।
महान्ति वस्तूनि तथान्यथापि ॥६॥

बड़ा छोटा, छोटा बड़ा हो जाता है। यह सृष्टि का नियम है। ईश्वर छोटी चीज से बड़ी बनाता है और बड़ी से छोटी।

औदीच्यविप्रा निवसन्ति तत्र,
मानोन्नता शीलगुणोच्चराश्च।
तेषांवरिष्ठः कुलकर्म निष्ठ,
आसीत्सुधीःकर्षण नामधारी ॥७॥

टंकारे में औदीच्य ब्राह्मण रहते हैं। मानी, प्रतिष्ठित और शीलवन्त। उनमें एक श्रेष्ठ और कर्म निष्ठ 'कर्षण' नामी ब्राह्मण रहता था।



महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

ग्रामे स आसीद् धनवांश्च विद्वान्,
राज्यस्य मान्यो जनवर्गपूज्यः ।
प्रजाश्वगोशस्यधनप्रपन्नः,
स्वदेश-देशेश महेशभक्तः ॥८॥

वह गाँव में धनवान और विद्वान था। राज्य में उसका मान था और लोगों में भी वह पूज्य समझा जाता था। प्रजा, घोड़े, गौ, अन्न, धन से सम्पन्न था। वह देश-भक्त, राजा-भक्त और ईश्वर-भक्त भी था।

कृतिः शुभा कापि नरेण तेन,
व्यधायि नूनं किल पूर्वयोनौ ।
यस्याः फलं प्राप्य हि भाग्यशाली
सोऽपूर्व पुंसः जनकत्वमाप ॥९॥

इस मनुष्य ने पिछली योनि में कोई ऐसा शुभ कर्म किया था कि जिसके फल को पाकर यह भाग्यशाली मनुष्य एक अपूर्व महापुरुष का पिता बन गया।

संवत्सरे ग्लौवसुभिद्धिचन्द्रे,
सीमन्तिनी सद्मनि कर्षणस्य ।
भद्रे दिने पुण्यतिथौ सुघट्यां,
ददौ जनिं बालमबालभासम् ॥१०॥

श्लो—चन्द्रमा १, वसु ८, सिद्धि—८ चन्द्र १, इस प्रकार १८८१ विक्रमी में शुभ दिन, पुण्य तिथि और अच्छी घड़ी में कर्षण की पत्नी ने तेजस्वी बालक को जन्म दिया।

प्रोद्भासितं तत्सदनं तदानीं,
प्रभामधासीदलकानगर्याः।
ननन्दतुस्तत्पितरौ तदास्य
विलोक्य लोक्यं सह बान्धवेन ॥११॥

घर के दीपक की नई रोशनी से समस्त घर को प्रकाशित देखकर, माता, पिता और कुटुम्बी सब हर्षित हुये।

तन्वन्ति कीर्तिं च विचारधारां,
विपश्चितां शंसितपूर्वजानाम्।
तस्मात् कुमारा अथवा कुमार्यः
"संतान" शब्देन जगत्प्रसिद्धाः ॥१२॥

पुराने प्रशंसित बुद्धिमानों की कीर्ति और विचार-धारा को तानते हैं इसलिये बालक और बालिकाओं को संसार में 'सन्तान' कहते हैं।

मुदा कृतं संयतजातकर्म,
विपश्चिता विप्रवरेण कृत्स्नम् ।
"वेदोसि" पित्रा गदितं निशम्य,
वेद-प्रियत्वं सरसं पपौ सः ॥१३॥

बुद्धिमान ब्राह्मण ने हर्षित होकर विधि पूर्वक जात कर्म संस्कार किया। पिता को कान में 'तू वेद है' ऐसा मन्त्र जपता हुआ सुनकर उस बालक ने वेद के प्रेम रूपी रस का उसी समय पान कर लिया।

यतस्ततोऽभूच्छिवसंप्रदायः,
समग्रतः गुर्जरदेशमध्ये ।
समस्तशिक्षा जनकेन दत्ता,
प्रथानुसारेण मतस्य तस्य ॥१४॥

चूँकि गुजरात के लोगों में शिव सम्प्रदाय प्रचलित था अतः पिता ने अपने उसी मत के अनुसार बालक को सब शिक्षा दी।

मत्वा प्रपंचस्य शिवोस्ति मूलं,
मूलं च बालस्य शिवः स एव ।
विचिन्त्य सेत्थं स्वसुतं सुनाम्ना ।
मूलादिमं शंकरमेव चक्रे ॥१५॥

यह मानकर कि शिव ही समस्त जगत् का मूल है और इसलिये बालक का मूल भी शिव ही है चन्द्रमौलि (शंकर) के उपासक ने लड़के का नाम 'मूल' (मूलशंकर) रक्खा।

[प्रपंचमूलमिच्छिवः शिशुः प्रपंच एव च।
अतश्चकार नामतः सुतं स मूलशंकरम् ॥१६॥]

[प्रपंच का मूल शिव है। और शिशु भी प्रपंच के ही अन्तरगत है। इसलिये उसने अपने पुत्र का नाम मूलशंकर रक्खा।

यथांकुराः पुष्टमवाप्य खाद्यं,
वेगेन रोहन्ति महीरुहाणाम्।
तथा शिशुः प्राप्यं पितुः प्रयत्नात्।
वृद्धिप्रकेतांस्स विकाशतेस्म ॥१७॥

जैसे पुष्ट खाद्य को पाकर वृक्षों के अंकुर शीघ्र बढ़ते हैं इसी प्रकार पिता के यत्न से बालक अपनी वृद्धि के चिह्नों का विकाश करने लगा। (प्रकेतं—प्रज्ञान ऋग्वेद १०।१२९।२)

यथा सुधांशुं समवेक्ष्य पूर्णम्,
आल्हादविक्षोभ युतः समुद्रः।
तथात्मजं वीक्ष्य बभूव पित्रो
र्मनोम्बुधिः हर्षजलौघ-पूर्णः ॥१८॥

जैसे समुद्र पूर्ण चन्द्रमा को देखकर हर्ष से उछलता है उसी प्रकार बच्चे को देखकर माता पिता के मन रूपी समुद्र में उबाल आने लगा।

संस्कारहीनाः पतिता भवन्ति,
संस्कारतो यान्ति नराः द्विजत्वम्
अकार्यतः पितृवरेण सम्यक्।
संस्कारभूषा-परिभूषितोऽसौ ॥१९॥

संस्कार हीन पतित हो जाते हैं। संस्कार से ही द्विज द्विज बनता है। इसीलिये माता पिता ने बच्चे को संस्कार के भूषण से भूषित किया।

ज्यौत्स्ने तृतीये च शुभे मुहूर्ते,
वेदोक्तरीत्या विततान यज्ञम्।
विकासमुद्दिश्यशिशोर्विधिज्ञो,
गृहाद् बहिर्निष्क्रमणं चकार ॥२०॥

शुक्ल पक्ष की तृतीया को शुभ मुहूर्त में उन्होंने वेदोक्तरीति से यज्ञ किया। बच्चे के विकास के उद्देश्य से विधि के जानने वाले पिता ने निष्क्रमण संस्कार किया।

यदान्नमत्तुं स शशाक बालः,
तदा प्रपूज्यान्नपतिं विधिज्ञः ।
हुताशने वैध-हवींषि हुत्वा,
तत्प्राशनं कृत्यमकारि पित्रा ॥२१॥

जब बालक खाने योग्य हुआ तो पिता ने अन्न पति ईश्वर की विधि पूर्वक स्तुति करके और हवन में ठीक ठीक हवियों को डालकर अन्न प्राशन संस्कार किया ।

क्षीरोदनं गन्धयुतं विधाय,
सभादयत् किंचन तत् तनूजम् ।
अन्नं च रूपाणि यशश्च गंधान्,
प्राणादिभिः प्राश विचित्रवृत्तिः ॥२२॥*

सुगन्ध युक्त खीर वनाकर उसमें से थोड़ी सी बच्चे को चटाई गई और प्राण से अन्न, अपान से गन्ध, आंख से रूप और कान से यश का पान किया । (देखो पारस्कर गृह्य सूत्र १।१९)

---

* प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, अपानेन गन्धानशीय स्वाहा ।
चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ।

चौलादि कर्माणि कृतानि सूनोः,
कृत्स्नानि पित्रा विधिपूर्वकाणि ।
सुसंस्कृतो येन कुलप्रदीपो,
देदीप्यमानोस्त्रिजगत्सुभूयात् ॥२३॥

पिता ने लड़के के चौल आदि संस्कार विधि पूर्वक किये। जिससे कुल का दीपक संसार भर में प्रकाशमान हो जाय।

यदायुषः पंचममब्दमापत्,
वटुर्यवीयान् स कुशाग्रबुद्धिः ।
पूर्वार्जितं विस्मृत-साक्षरत्वं,
सोऽवाप स्वप्नादिव विप्रबुद्धः ॥२४॥

जब वह छोटा और तेज बुद्धि वाला बालक पाँचवें वर्ष में पड़ा तो उसने स्वभाव से ही शीघ्र उन अक्षरों को याद कर लिया जिन को उसने पूर्व जन्म में पढ़ा था और अब भूले हुये थे।

यदाष्टमाब्दे व्यदधात् सुतोंघ्रिम्,
सस्मार शास्त्रस्य पिता वचांसि ।
आचारमादृत्य कुलीनतायै,
यज्ञोपवीतं विधिवच्चकार ॥२५॥

जब बालक ने आठवें वर्ष में पैर रक्खा तो पिता को शास्त्र के वचन याद आये। और उसने कुलाचार के अनुसार यज्ञोपवीत देने का प्रबन्ध किया।

ऋतौ वसन्ते दिवसे प्रशस्ते,
निमंत्रिता यज्ञनदीष्णविप्राः।
य आंगणे कर्षणविप्रमौलेः,
अरीरचन् पावनयज्ञवेदीम् ॥२६॥

वसन्त ऋतु में शुभ दिन को उसने शास्त्रज्ञ विद्वानों को बुलाया और उन्होंने उस ब्राह्मण के घर आंगन में पवित्र वेदी बनाई।

शिखा च सूत्रं ह्युभयं पवित्रं,
पुरातने संस्कृतिमूलचिह्नम्।
अतस्तयोरार्यजना यतन्ते।
संस्थापनार्थं सततं प्रबुद्धाः ॥२७॥

शिखा और सूत्र यह दोनों पुराने आर्य संस्कृति के पवित्र चिह्न हैं। बुद्धिमान् आर्य इन दोनों की सदा रक्षा करते आये हैं। २७

क्रतुं द्विजं बालकमूलमार्यः,
आचार्यं वर्यं विधिवत् स वव्रे ।
पुरः कृशानोः स हि पूज्यमानः,
प्रादाच्छुभं माणवकाय सूत्रम् ॥२८

मूलशंकर को द्विज बनाने के लिये उसके पिता ने आचार्य का विधि के अनुसार वरण किया और उसने अग्नि के समक्ष पूजित होकर लड़के को यज्ञोपवीत दे दिया ।

मूलो य आसीच्छिशुरद्ययावत्,
स ब्रह्मचारी यजनाद् बभूव ।
कौपीनधारी व्रत दण्डपाणिः,
ऋषित्वभासा शुशुभे सभायाम् ॥२९॥

जो मूलशङ्कर अब तक शिशु था । आज ब्रह्मचारी बन गया । कोपीन पहन ली । हाथ में व्रत का दण्ड धारण कर लिया । और सभा में ऋषि पन के प्रकाश से प्रकाशित हो उठा ।

प्रपंचभागस्तु महोत्सवस्य,
सम्पादितो विप्रवरेण सम्यक् ।
आगन्तुकेभ्यो बहुदानमानं ।
मोदःप्रमोदश्च गृहे जनेभ्यः ॥३०॥

महोत्सव का आडम्बर तो विप्र महोदय ने पूरा कर दिया आगन्तुकों को दान भी मिला और मान भी। घर भर ने बहुत हर्ष मनाया।

परन्तु केनापि जनेन तत्त्वं,
संस्कारकृत्यस्य न चिन्त्यतेस्म।
समस्तकृत्यानि यतो हि तस्मिन्
यज्ञे बभूवुः किल बाललीलाः ॥२१॥

परन्तु किसी ने यह न सोचा कि संस्कार का प्रयोजन क्या है। उस यज्ञ में जो कृत्य किये गये वह बाल लीला मात्र ही थे।

यथा शरीरं विगतात्म-तत्त्वं,
यथा च भाषा रहितार्थ भावा।
तथा विनार्थं विहितोपि यज्ञः,
संस्कार मात्रे सफलोन हि स्यात् ॥२२॥

जैसे जीव के निकल जाने पर शरीर बेकार है और अर्थ-शून्य भाषा बेकार है उसी प्रकार जिस संस्कार से वास्तविक प्रयोजन सिद्ध न होता हो वह संस्कार भी केवल यज्ञ से ही सफल नहीं हो सकता।

यज्ञः कृतः सूत्रमधारि गात्रे,
गुरोः कुलं किंतु गतो न मूलः ।
उवाच वेदस्य विना सुपठं,
यज्ञोपवीतं [illegible] ॥३३॥

यज्ञ भी हुआ औ[illegible] ीत भी पड़ गया । लेकिन मूलशङ्कर गुरुकु[illegible] ीं । वह कहने लगा कि वेद के पाठ के बिन[illegible] ।

नो ब्रा[illegible] ो नो,
नार्याश्[illegible] ् ।
कण्ठेऽ[illegible] ूत्री,
गात्रे [illegible] ॥३४॥

जो वेद नहीं पढ़[illegible] ो वेद पर नहीं चलते वे आर्य नहीं । उनके [illegible] धागा ऐसा है जैसे बछड़े के गले में रस्सी[illegible]

शुश्राव मूलस्य पिताऽस्यवार्ताम्,
अचिन्तयल्लोकमतस्य रीतिम् ।
पाठव्यवस्थां कृतवान् सुतस्य,
गृहे समारब्ध च वेदपाठान् ॥३५॥

मूलशङ्कर के पिता ने उसकी बात सुनी और जैसे लोक की रीति है उसी के अनुसार सोचा भी। उसने लड़के के पढ़ने का कुछ प्रबन्ध कर दिया और वह घर में ही वेद पढ़ने लगा।

यजूंष्यधीतानि कियन्ति तेन,
यथानुसारं सुकुलस्य तस्य।
न सन्तुतोषास्य मनः कदाचित्,
पिपीलिकान्नेन यथा गजेन्द्रः ॥३६॥

उसने कुल की रीति के अनुसार कुछ वेद पढ़ा। परन्तु उससे उसे सन्तोष नहीं हुआ। जैसे चींटी के भोजन से हाथी सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

सुदूरकाशीं न शशाक गन्तुं,
बाल्ये सुतः प्राप्तुमपूर्वविद्याम्।
लोकस्य विद्या तु गृहे विधेया,
वेदस्य पाठेन बिना क्व हानिः ॥३७

लड़का छोटा था। उच्च शिक्षा के लिये दूरस्थ काशी में जा नहीं सकता था। लोक की विद्या तो घर में आ सकती है। वेद न भी पढ़ा तो हानि क्या?

आसीत् समीपे लघुपाठशाला,
संचालिता वेदविदा सुबुद्धया ।
वेदप्रियस्तत्र जगाम लब्धुं,
वेदस्य विद्यां कठिनां दुरूहाम् ॥३८॥

पास ही एक पाठशाला थी। वहाँ एक बुद्धिमान् वेद पाठी पढ़ाते थे। वेद का प्यारा मूलशङ्कर वहाँ वेद की कठिन और दुरूह विद्या पढ़ने जाने लगा।

मृत्यौ तथा जीवनवृत्तमध्ये,
मृत्युर्गरीयांश्च विवेकदोऽस्ति ।
लोकाम्बुधौ मज्जितचेतसोऽपि,
मृत्युं निरीक्ष्यैव बुधा भवन्ति ॥३९॥

मौत और जीवन के बीच में मृत्यु अधिक विवेक देता है। जिन के चित्त लोक के समुद्र में डूबे हुये हैं वे मृत्यु को देखकर बुद्धिमान् हो जाते हैं।

पुरा किलासीन्नृपसूनुरेकः,
शाक्ये कुले गौतमनामधारी ।
दृष्ट्वा शवं चेतसि तस्य जातो,
वैराग्यभावः प्रियदर्शनस्य ॥४०॥

पुराने जमाने के शाक्य कुल में उत्पन्न हुआ गौतम नामी एक राजपुत्र था। लाश को देखकर उस प्रियदर्शी के मन में वैराग्य उठ खड़ा हुआ।

पितृव्यपादेषु दिवं प्रयाते-
ष्वचिन्तयच्चेतसि तत्त्वदर्शी।
कुतः समायात् क्व गतश्च जीवः,
किं जीवनं वा मरणं किमस्ति ॥४१॥

जब लोक से उसके चचा चल बसे तो उस तत्त्वदर्शी ने सोचा कि जीव कहाँ से आया और कहाँ गया ? जीवन क्या है, मौत क्या है ?

विमुक्त आसीन्नहि मोहहेतोः,
स्यो द्वितीयं स ददर्श दृश्यम्।
प्रसह्य जग्राह कुलस्य मध्यात्,
तस्य स्वसारं किल मृत्युदेवः ॥४२॥

अभी उस मोह के भाव से मुक्ति नहीं मिली थी। कि उसने दूसरा दृश्य देखा। मौत जबरदस्ती परिवार से उसकी बहन को उठाकर ले गई।

द्वाभ्यां प्रियाभ्यां स हि विप्रयुक्तः,
क्षुब्धोऽभवच्छोकपरीतचित्तः ।
प्रपंचमुन्मोक्तु मनामनस्वी,
परोक्षलोके विततान चिन्ताम् ॥४३॥

दोनों प्यारों से छूटकर वह शोक की आग में जल गया। उस महात्मा ने इस प्रपंच जाल को तोड़ने के लिये दूसरे लोक की बात सोची।

आमुष्मिकं तत्त्वमदूरगंत्री,
बालस्य बुद्धिर्न शशाक बोद्धुम् ।
श्रुत्वा जनैभिन्नमतानि भिन्नैः,
विमूढचेता बटुको बभूव ॥४४॥

परन्तु बालक की बुद्धि में यह बात नहीं आई कि मौत के बाद क्या होता है। भिन्न भिन्न लोगों से भिन्न २ बातों को सुनकर बालक की समझ में नहीं आया कि क्या ठीक है। क्या नहीं।

अध्यैष्ट शास्त्राणि न लाभमाप,
पपृच्छ वृद्धान्, न बभाषिरे ते ।
निर्मूल गाथा श्रुति युक्ति-शून्याः
मृषा वदन्ति स्म महेश-भक्ताः ॥४५॥

शास्त्र पढ़े परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। बूढ़ों से पूछा। उन्होंने उत्तर न दिया। शैव मत के अनुयायी निर्मूल और असंगत गाथाओं का प्रचार किया करते थे।

ईशोऽस्ति शैवस्य मते महेशः,
शम्भुः शिवः कामरिपुः कपर्दी।
शूली त्रिशूली गिरिशः पिनाकी,
मृडो हरः शंकर उग्र रुद्रः ॥४६॥

शैव मत में ईश्वर को महेश, शंभू, शिव, कामरिपु, कपर्दी, शूली, त्रिशूली, गिरिश, पिनाकी, मृडोहर, शंकर, उग्र, और रुद्र कहते हैं।

कलाधरो राजति तस्य भाले,
कण्ठप्रदेशे च भुजङ्गमाला।
वृषस्य पृष्ठे सह हैमवत्या,
करोति नित्यं भ्रमणं जगत्याम् ॥४७॥

उसके माथे पर चन्द्रमा है, कण्ठ में सांपों की माला है। पार्वती के साथ नादिया पर बैठकर वह नित्य जगत् में भ्रमण करता रहता है।

शिवालये भारतवर्ष देशे,
संस्थाप्यते शंकर-लिंग-मूर्तिः ।
योनावुमाया हिमवत्-सुतायाः,
तस्याः पुरो भाति वृषः स नन्दी ॥४८॥

भारतवर्ष देश में शिवालय में शिव की पत्नी उमा की योनि में शिवलिङ्ग की मूर्ति स्थापित की जाती है। और उसके सामने नादिया की मूर्ति।

प्रातः सदा शैवमतावलम्बी,
मूर्त्याः समीपे कुरुतत्सपर्याम् ।
समर्पयेदत्र फलं च पुष्पं,
स्तुतिं तथा गायतु शंकरस्य ॥४९॥

शैव मतवाले हर प्रातःकाल मूर्ति के समक्ष पूजा करते हैं। फल फूल चढ़ाते हैं और शंकर की कीर्ति का गान करते हैं।

रुद्राक्षमालां परिधाय शैवः
सलिप्य वा भस्मरजः शरीरे ।
विश्वस्य पौराणिकशैवगाथाः,
"बं बं महादेव" इतिब्रवीति ॥५०॥

गले में रुद्राक्ष की माला डालते हैं और शरीर में भस्म पोत कर पुराणों की (दक्ष सम्बन्धी) गाथाओं पर विश्वास करके बं बं महादेव कहते हैं।

त्रयोदशी फाल्गुण कृष्ण पक्षे,
या कीर्त्यते देव-शिवस्य रात्रिः।
तस्यां स्वमूर्त्याः स्वयमेव शंभुः,
आत्मस्वरूपं प्रकटीकरोति ॥५१॥

फाल्गुन कृष्णपक्ष की त्रयोदशी शिवरात्री कहलाती है, कहते हैं कि उस रात को शिव स्वयं अपनी मूर्ति में से प्रकट होता है।

अतः समस्तेऽहनि शैव भक्ताः,
विनान्नपानं व्रतमाचरन्ति।
ताताग्रहादेकदिने सुतोऽपि,
व्रताय शम्भोश्च समुद्यतोऽभूत् ॥५२॥

इसलिये शिव के भक्त दिन भर बिना अन्न जल के व्रत रखते हैं। एक दिन पिता के आग्रह करने पर पुत्र (मूलशंकर) भी शिव के व्रत के लिये तैयार हो गया।

शिवालये भक्त जनाश्च रात्रौ,
समेययुः कर्षणपण्डितेन ।
स्तुतिश्च गानं च कथाश्च वार्ताः,
आनन्दयन् तत्रगतान् मनुष्यान् ॥५२॥

रात्रि को कर्षण के साथ और भक्त लोग भी शिवालय में आये। स्तुति, गान, कथा वार्त्ता से सब को आनन्द हुआ।

निद्रालसा मूढजनाः स्वभावात्,
चकंपिरे तत्र शिरांसि नत्वा ।
परन्तु मूर्तौ सुनिबद्ध-दृष्टिः,
चक्रे प्रतीक्षां युवको हरस्य ॥५४॥

स्वभावतः नींद में सिर को झुका कर बूढ़े लोग काँपने लगे परन्तु युवक मूलशंकर मूर्ति में टकटकी लगाये शिव की प्रतीक्षा करता रहा।

आयास्यति स्थाणुरसौ निशीथे,
छेत्स्यन्त्यथ क्षान्तजन-व्रतानि ।
गमिष्यति ब्रह्मवियोग-रोगः,
स्व जीवनं यत् सफली-करोमि ॥५५॥

इस शुभ रात्रि में शिव जी आयेंगे और दुखीजन के व्रत सिद्ध होंगे। ब्रह्म के वियोग का रोग दूर होगा। और मैं भी अपना जीवन सफल करूँगा।

विचारयन् चेतसि बालयोगी,
तस्थौ सभायां किल बद्ध-दृष्टिः।
तदैव कोणस्थविलादकस्मात्,
क्षुद्रैक आखुः प्रकटीबभूव ॥५६॥

बालक योगी मन में ऐसा विचार कर लगातार टकटकी लगाये सभा में ठहरा रहा। तभी बिल से एक छोटा चूहा निकला।

भुक्त्वा स नैवेद्यमुपेतमूर्धा
धृष्टो गृहं स्वं शनकैर्जगाम।
प्रदर्शयामास न लेश-मात्रं,
रोषं तदा शंकर-देव-मूर्तिः ॥५७॥

वह मूर्ति के सिर से चढ़ावे को खाकर धीरे-धीरे अपने बिल में घुस गया। शंकर की जड़ मूर्ति ने कुछ भी रोष नहीं दिखाया।

विचारितं तेन शिवस्वरूपं,
सोऽयं शिवो यस्य शिवाऽस्ति भार्या ।
पाषाण-खण्डो न हि खण्डपशुः
सृष्टेर्नियन्ता च कथं जडात्मा ॥५८॥

मूलशंकर ने तब सोचा कि शिव का स्वरूप क्या है ? शिव क्या है ? उसकी स्त्री पार्वती क्या है ? पत्थर का टुकड़ा शिव नहीं है । जड़ तो सृष्टि का नियन्ता नहीं हो सकता ।

नायं शिवो यं मृगयामि मूर्खः,
पाषाण-मूर्त्या न शिवं नराणाम् ।
उद्बोध्य तातं विनयेन बालः,
शंकां समस्तां कथयांचकार ॥५९॥

जिसको मैं मूर्ख खोज रहा हूँ वह यह शिव तो नहीं । पत्थर की मूर्ति से लोगों का क्या कल्याण होना है ? बालक ने विनय से बाप को जगाया और उनके सामने समस्त शंका रख दी ।

आकर्ण्य बालस्य वचः सुबोध्यं,
श्रद्धान्ध-वृद्धः कुपितो बभूव ।
देवस्य निन्दां कुरुषे त्वमीदृक्,
जानासि धिङ् मूर्ख विभोर्न तत्त्वम् ॥६०॥

बालक की सुबोध बात को सुन कर श्रद्धा से अन्धा बाप क्रुद्ध हो गया और कहने लगा, "अरे तू देवता की इस प्रकार निन्दा करता है। शिव जी की प्रभुता को नहीं समझता।

प्रत्युत्तरं नैव शशाक दातुं,
तातेन तर्को विनयस्य भंगः।
गृहे समागत्य जघास किंचित्।
शंका-विमूढो व्रतभावभञ्ज ॥६१॥

बालक प्रत्युत्तर न दे सका। बाप के साथ तर्क करना विनय का भंग करना है। घर चला आया और कुछ खाकर शंका से विमूढ़ बालक ने व्रत तोड़ दिया।

निशम्य तातो व्रतभंग वार्तां,
देवस्य कोपाद् विभयं-चकार।
चुक्रोध वाचं परुषामुवाचे,
परन्तु माता शमने व्यधत्त ॥६२॥

बाप ने व्रत तोड़ने का हाल सुना और देवता के कोप से डर गया। क्रुद्ध हुआ। कटु वाणी बोला। परन्तु माता ने शान्त कर दिया।

तस्थौ गृहे कालमसौ तु कंचिद्,
बालो विरक्तोभवभोगजालात् ।
देशान्तरं गन्तुमियेष शीघ्रं,
जिज्ञासया सर्वगशंकरस्य ॥६३॥

बालक असन्तुष्ट होकर कुछ दिन घर में ठहरा। उसका चित्त सब लोगों में विरक्त हो गया। सर्वव्यापक ईश्वर की जिज्ञासा से प्रेरित होकर उस ने अन्य देशों को जाने का इरादा किया।

चिन्ता-निमग्नं समवेक्ष्य पुत्रं,
बभूव मूलस्य पिता सशंकः ।
न युज्यते बालक-चित्तवृत्तौ
मुनिप्रवृत्तिः स्थविरस्य योग्या ॥६४॥

पुत्र को चिन्ता में डूबा देखकर मूलशंकर के पिता को शंका हो गई। क्योंकि बालक के शरीर में बूढ़ों का सा मुनियों का वैराग्य शोभा नहीं देता।

"बाल्ये गते शोचति तस्य माता,
युवा सुतो मे भविता वधूयुः ।
तनिष्यते वंशततिश्च तेन,
भविष्यतीच्छा सफला ममेत्थम् ॥६५॥

उसकी माता सोचती है कि बालकपन बीतने पर मेरा बेटा जवान होगा। व्याह करेगा और उससे वंश चलेगा। और मेरी यह इच्छा पूरी होगी।

मनोरथानामभिशंक्य हानं,
पिता च माता च विचारमग्नौ।
विवाह पाशेन युवानमेनं,
बलेन बंद्धुं यतनान्यकार्ष्टाम् ॥६६॥

अपने मनोरथों की क्षति को सोचकर माता और पिता विचार में डूब गये। और उन्होंने इस युवक को विवाह के पाश में पूरा-पूरा जकड़ने का यत्न किया।

इत्यार्योदयकाव्ये दयानन्दजन्मवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः।

अथ त्रयोदशः सर्गः

परिणय-सुखभारान्,चिन्त्यमानान् जनन्या
मृतकवसनदृष्टयाऽलोकयद् रागरिक्तः ।
कुटिल-मृदुल-नीतिं तातपादस्य दृष्ट्वा,
विषयुत मधुरान्नैः साम्यभाजं स मेने ॥१॥

माता द्वारा तैयार किये हुये विवाह के सामान को वैराग्य प्राप्त पुत्र ने कफन के तुल्य समझा। पिता की कुटिल नीति को बुद्धिमान पुत्र ने विष मिले अन्न के समान जाना।

यदि परिणय-रज्वा, बध्यते कोऽपिलोको,
ह्यशनशयन-मध्ये याप्यते तस्य कालः ।
विषयज-विष-संश्लिष्टात्मना सत्यकामो,
भ्रमनिगडित लोकानुद्धरिष्ये कथं वा ॥२॥

उसने सोचा कि यदि विवाह के जाल में फंस गया तो मेरा समय खाने सोने में ही जायगा। विषयों के विष से दूषित आत्मा से मैं सत्य कामना वाला पुरुष भ्रम में फँसे संसार का कैसे उद्धार करूँगा ?

पितरि भवतु भक्तिः सर्वदा सज्जनानां,
पितुरवमतिरेनः कथ्यते धर्मविद्भिः ।
पितरमनुसरेयं वोच्चवैराग्यवृत्तिम्
इति कठिन समस्या जागरूकं तुतोद ॥३॥

अच्छे लोग माता पिता की सदा भक्ति करते हैं। धर्म के जानने वाले कहते हैं कि पिता की आज्ञा न मानना पाप है। पिता का कहा मानूँ या उच्च वैराग्य वृत्ति का पालन करूँ यह कठिन समस्या उस जागरूक बालक को दुख देने लगी।

भृशतरमथ तेने तेन यूना प्रयासः
परिणयपरता नो किन्तु तातैरमोचि ।
व्यथितहृदय एषोऽवेक्ष्य मार्गावरोधं,
गृह-गहन-विमुक्त्यै चिन्तयामास मार्गम् ॥४॥

उस युवक ने बहुत कोशिश की। परन्तु माता पिता ने विवाह कराने का आग्रह न छोड़ा। दुःखी बालक ने अपना रास्ता रुका देखकर गृहस्थ की आग से बचने का उपाय सोचा।

अनुपमसुखमाहुर्गेहसौख्यं प्रबुद्धाः,
पितृसमशुभचिन्ताकारको नास्ति लभ्यः ।
मनसि यदि भवेयुस्तोषकोषप्रमोषाः,
हिम-सम-शशिरश्मेरग्नि तुल्या प्रतीतिः ॥५॥

बुद्धिमानों ने कहा है कि घर के सुख से अधिक कोई सुख नहीं। और माता पिता के प्रेम से अधिक कोई प्रेम नहीं, परन्तु जब मन में असन्तोष की तरंगे उठने लगें तो चन्द्रमा की बर्फ के समान ठण्डी किरण भी अग्नि के समान लगती है।

पितृनिलयनिवासेनात्महाने क्वलाभो,
यदि विकसति नात्मा किं वृथा जीवनेन।
परमपदमुपेतुं जीव आयाति लोके,
किमु विफलित यत्ने स्याद् गृहं वा वनं वा ॥६॥

जब आत्म ज्ञान का लाभ न हो तो माता पिता के घर से क्या लेना? यदि आत्मा विकसित न हो तो जीने से क्या लाभ? मनुष्य लोक में इसलिये जन्म लेता है कि परम पद मोक्ष की प्राप्ति हो। जब उद्देश्य ही सिद्ध न हो तो जैसा घर वैसा बन।

इति मनसि विचिन्त्य ब्रह्मतत्वान्तदृष्टिः,
अचिर रुचिर माया मोहजालं बभञ्ज।
जन-जनक-जनन्याधिं हठाद् हेडमान-
स्तमसि गृहममुञ्चद् रामखांकेन्दुवर्षे ॥७॥

ब्रह्म के तत्व पर दृष्टि रखने वाले मूलशङ्कर ने मन में ऐसा विचार करके क्षणिक मनोहर माया जाल को तोड़ दिया। और अपने सम्बन्धियों तथा माता पिता के दुःख की परवाह न करके हठ से १९०३ वि० में अंधेरे में घर से चल दिया।

भ्रमति वियति भंक्त्वा पंजरं विस्तृते विः,
चषति रसमपूर्वं गन्धवाहस्य कामम् ।
अभजत मुदितोऽसौ बालयोगी तथैव,
पृथुतरवसुधायाः स्वाद्वरिप्रं प्रवासी ॥८॥

पिंजड़े को तोड़कर पक्षी विस्तृत आकाश में भ्रमण करता है और वायु के अपूर्व रस को मन भर के पीता है। इसी प्रकार यह बालयोगी प्रवासी भी लम्बे-चौड़े संसार के दोष रहित स्वाद को मौज से चखने लगा

(अरिप्रं पापरहितम् ऋग्वेद १०।७१।१)

तनुजरहितगेहं गेहिनी पर्यदर्शद्,
विकलतनुररोदीदश्रु वारि स्रवन्ती ।
सुतविरहितगेहं दृष्टवानज्ञगेही,
प्रकुपित-वदनोऽसौ प्राहिणोद् दिक्षु भृत्यान् ॥९॥

मा ने घर को बालक से सूना देखा। और दुखी होकर आँसू बहाने लगी। मूर्ख बाप ने बिना बालक के घर को देखा तो उसे क्रोध आ गया और चारों ओर तलाश करने के लिये उसने नौकर भेजे।

इत उत तत ऐषीद् ग्रामतो ग्राममायुः,
इत उत तत ऐक्षिष्टात्मजं भृत्यवर्गः ।
शशक इव पुरः स ब्रह्मचारी दधाव,
भषक सम जनास्ते येतिरे तं ग्रहीतुम् ॥१०॥

('आयुः' का अर्थ है बालक। देखो आप्टे का कोष) बालक एक ग्राम से दूसरे ग्राम को इधर उधर फिरने लगा और नौकर लोग इधर उधर उसे खोजने लगे। ब्रह्मचारी खरगोश की भांति आगे चलता था और लोग कुत्ते के समान उसको पकड़ने की कोशिश करते थे।

धनिक-तनुजवासांस्यांगुलीयं च हैम-
मुपनहसुरवेत्त्य त्यागिनः केऽपि धूर्ताः ।
अपटुवटुकमेनं पातयित्वा स्वजाले,
सकलभरणजातं वंचकै वंचितं च ॥११॥

कुछ धूर्त त्यागियों ने देखा कि यह धनाढ्यों के से कपड़े पहने है और सोने की अंगूठी है। उस अनुभव शून्य बालक को जाल में फंसाकर उन ठगों ने सब सामान ले लिया।

अथ विरहितभारो धारयित्वाऽल्पवस्त्रम्,
अगमदयमदीनः सायले ग्राम-मध्ये ।
परिचितमभिधानं मूलमुत्सृज्य पूर्वम् ,
स तु विधिवदगृह्णाच्छुद्ध चैतन्यमाख्याम् ।।१२।।

अब सामान न रहा । थोड़े से कपड़ों को पहने वह अदीन होकर सायले ग्राम में पहुँचा । वहाँ उसने अपना परिचित नाम "मूल" छोड़ दिया और विधिवत् 'शुद्ध चैतन्य' ब्रह्मचारी बन गया ।

तपसि निहितचित्तो दीक्षितो ब्रह्मचारी,
समवसदसुकोऽत्र प्रेरणात् तापसानाम् ।
लघुमठपति-लाला-भक्त-साधोः समीपे,
शमयितुमतितीव्रा योग-विद्या-पिपासाम् ।।१३।।

तप की भावना मन में रखकर दीक्षित होकर वह ब्रह्मचारी कुछ वैरागियों।की प्रेरणा से वहीं रहा । एक छोटे से मठ-पति लाला भक्त के पास अपनी योग की तीव्र पिपासा बुझाने के लिये ठहरा ।

अशमितमृगतृष्णो वालुकाऽद्यस्तवार्भि-
र्जरठमठममुंचत् संयतो निश्चितार्थे ।
अचल युवक यात्री पर्व-वार्ता निशम्य,
सपदि पुरमयासीत् सिद्धपूर्वं प्रसिद्धम् ॥१४॥

जैसे रेत को जल समझ कर किसी की प्यास नहीं बुझती ऐसे ही उसे संतोष नहीं हुआ। उस छोटे से मठ को त्यागकर उस अटल नये यात्री ने सिद्धिपुर का रास्ता लिया। क्योंकि उसने सुना कि मेला है और योगियों के दर्शन हो सकेंगे।

रहसि सहचरायच्छद्म वेशाय शान्तः,
बटुरनुभवशून्यः स्वेहितं व्याचचक्षे ।
परमनुचितमेतच्चेष्टितं सोऽस्य मत्त्वा,
पितृजनमसुसूचद् गुप्तरीत्या हितेप्सुः ॥१५॥

अनुभव शून्य अल्पदर्शी शान्त बालक ने चुपके से अपना भेद एक साथी पर खोल दिया। उसने सोचा कि यह बालक मूर्ख है। इसने अनुचित किया। अतः उसने उसी के हित में सब बातें उसके बाप के आदमियों को बता दीं।

अनुचरसहितोऽसौ कर्षणो विप्रवर्यः,
निगदितपुरमूर्ते नीलकंठस्य पार्श्वे ।
परिषदि हरगाथां श्रद्धयाकर्णयन्तम् ,
असुतमिव सुतं तं पीतवस्त्रं ददर्श ॥१६॥

करसन ब्राह्मण अपने आदमियों को साथ लेकर सिद्धपुर गया और वहाँ देखा की नीलकण्ठ शिव की मूर्ति के पास बैठा हुआ लड़का पीले वस्त्र पहने हर की कथा सुन रहा है। उसने सोचा कि इस पुत्र ने अपुत्र के समान आचरण किया है।

धन-जन-बलजुष्टां मानकीर्ति-प्रतिष्ठां,
वटुरयमतिमूढो हीन वृत्तिर्विहाय ।
कुल-कलुषित धूर्तैं वंचकै-र्वंचितार्थः,
मम पितुरपि हेत्थं कल्मषास्यं चकार ॥१७॥

मेरे पास वन है, बल है, जन हैं। मान है। प्रतिष्ठा है। इस मेरे मूर्ख और हीन-वृत्ति पुत्र ने कुलकलंकित धूर्त ठगों के बहकाये में आकर मुझ पिता के मुँह को इस प्रकार काला कर दिया।

धिगिति धिगिति ताते वेपमानेऽत्यमर्षात्,
कथयति मुहुरस्मिन् रक्तनेत्रे सुतालः
चलदल इव झंझा-ताडितो धूयमानः।
जनकचरणमूले स्विन्नगात्रः पपात ॥१८॥

जब बाप क्रोध से कांपकर लाल आंखें किये बारबार पुत्र को धिक्कारने लगे तो बालक पसीना पसीना होकर बाप के पैरों पर ऐसा गिर पड़ा जैसे आँधी से काँप कर पीपल का पत्ता।

नहि किमपि मृदुत्वं दर्शितं तेन पित्रा,
अलभत नहि शान्तिं दीपितः क्रोध-वह्निः।
व्रतिन उदक पात्रं तेन भग्नं प्रसह्य,
वसनमपि वितेने खण्डशः पीतवर्णम् ॥१९॥

बाप ने कुछ नरमी नहीं दिखाई। क्रोध की आग थोड़ी भी शान्त नहीं हुई। उसने व्रती बालक के तूंबे को छीनकर फोड़ दिया! और पीले कपड़े फाड़ दिये।

प्रहरिजनमवादीद् भूमिपो विप्र-रूपः,
नयत कुलकलंकं द्रोहिणं मूढमेनम्।
व्रजतु न हि कथंचित् कुत्रचिद् दुष्टरूपः,
इति कुरुत सुरीत्या दत्तबन्धं प्रबन्धम् ॥२०॥

ब्राह्मण रूपी जमींदार पहरे वालों से बोला "इस द्रोही मूढ़ कुल कलंक को ले जाओ। यह कैसे भी कहीं न जाने पावे। सावधानी से ऐसा प्रबन्ध करो"।

परिजन-कृतकारा-क्लेशितो बालबन्दी,
कुटिल विधिमवेक्ष्य क्षुब्धचेताश्चकाशे।
पुनरपि गमनार्थं चिन्तयामास मार्गम्,
क्षणिकभव सुखार्थं कस्त्यजेदात्मतत्वम् ॥२१॥

बालक कैदी अपने नौकरों की कैद से क्लेशित होकर अपने टेढ़े भाग्य को देखकर परेशान हो गया। संसार के क्षणिक सुख के लिये आत्मतत्त्व को कौन छोड़ता है ? ऐसा विचार कर फिर भागने का मार्ग खोजने लगा।

नहि कतिपयरात्रीरस्वपीदात्मचिन्तः,
क्षणमपि न शशाक त्यागरागं विमोक्तुम्।
प्रहरिषु पलमात्रं निद्रया मूर्छितेषु,
झटिति गृहममुंच-मुक्तिमार्गानुगामी ॥२२॥

आत्मा की चिन्ता करने वाला कई रात न सोया। और वैराग्य को एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ा। क्षण भर के लिये पहरेदारों की आँख झपक गई और मुक्ति के मार्ग पर चलने वाले ने झट घर छोड़ दिया।

तमसि बहिरगात् स ग्रामतश् छिन्नवस्त्रः,
उषसि जन समूहं पर्यटन्तं लुलोके ।
परिचितपुरुषाणां चक्षुषो रक्षणार्थो,
द्विज इव तरुशाखा पल्लवाच्छादितोऽभूत् ॥२३॥

फटे वस्त्र पहने गाँव से निकल पड़ा । बहुत तड़के देखा कि लोग चल फिर रहे हैं । परिचित पुरुषों की आँख से बचने के लिये वह पेड़ों की डालियो के पत्तों में पक्षी के समान छिप गया ।

उदितवति दिनेशे ज्ञातनिर्यातृयानाः,
करसनजनवर्गाः खेदमत्यन्तमापुः ।
दिशि दिशि च तदन्वेषाय यातोन्वपश्यत्,
क्षितिरुहदलजालाकीर्णदेहो द्विजेन्द्रः ॥२४॥

करसन के नौकरों ने सूर्य के प्रकाश में निकलने वाले के जाने का हाल जानकर बहुत दुःख माना । इस ब्राह्मण (या पक्षी) ने पत्तों के घर में से देखा कि उसके ढूँढने के लिये लोग भिन्न दिशाओं में जा रहे हैं ।

द्विज इव स तदासीद् वृक्षनीडे सनीडे,
द्विज इव न तु भोक्तुं तत्र खाद्यं शशाक ।
अनशनदिनमेकं यापयामास वृक्षे,
तदनुसमयमाप्त्वाऽवातरत् सावधानम् ॥२५॥

इस कल्पित घोंसले में वह पक्षी के समान पड़ा रहा। परन्तु जैसे पक्षी खाना खा लेते हैं वैसे भोजन नहीं कर सका। एक दिन भूखा पड़ा रहा। फिर समय पाकर सावधानी से उतरा।

क्षुधितमुदित बालः पालितः स्वात्मतुष्ट्या,
सकल सुख पदार्थैर्वञ्चितोऽपि प्रसन्नः।
मृगयितुमृतगोपं सद्गुरुं दृष्टमार्गं,
प्रभुपद धृत दृष्टिर्यत्रतत्राभ्रमत् सः ॥२६॥

बालक भूखा था परन्तु प्रसन्न था क्योंकि आत्मा का सन्तोष उसकी रक्षा कर रहा था। सब पदार्थों से वंचित होते हुये भी सुखी था। ईश्वर के चरणों में दृष्टि बाँधकर वह इधर उधर ऐसे सद् गुरु की तलाश में फिरता रहा जो ऋतगोप (वेदों का रक्षक) हो और जिसने स्वयं मार्ग देखा हो।

अलभत न सुयोग्यं योगिनं योगकांक्षी,
बहु-कपट-कपाटा भोगिनो योगिरूपम्।
दधति, भुवि शृगालः सिंह-राजस्य वेशे,
जनयति च विभीतिं स्वार्थ-सारामसाराम् ॥२७॥

योग की इच्छा करने वाले को कोई योग्य योगी नहीं मिला। बहुत से छली योगी मिले। शृगाल शेर के भेस में फिरता है और स्वार्थ से लोगों को डराता है।

तदपि नहि निराशा शुद्धचैतन्यमाष्ट,
विततनिरतयत्ना इष्टमर्थं लभन्ते ।
जगति जगत ईशो न्यायकारी दयालु-
र्मृडयति हि पुमांसं केवलं कर्मवीरम् ॥२८॥

लेकिन शुद्ध चैतन्य को निराशा ने नहीं घेरा। जो यत्न करते हैं वहीं फल पाते हैं। न्यायकारी और दयालु जगदीश जगत् में कर्मवीर पर ही कृपा करता है।

अनवरतगतीनां क्लान्तिभिः क्लिष्ट यात्री,
कथमपि धृति-निष्ठो ग्रामचाणोदमायात् ।
भव-विरति-रतानां तत्र चाभ्यागतानाम्,
अलभत सहचर्यां ब्रह्मविद्यारसज्ञः ॥२९॥

लगातार चलते चलते थका हुआ यात्री किसी प्रकार धैर्य रखकर चारणोद में आया। ब्रह्म विद्या के रस को जानने वाले ब्रह्मचारी को वहाँ ऐसे साथी मिले जो त्यागी और तपस्वी थे।

जगदिदमसदस्ति ब्रह्म सत्यं न चान्यत्,
उदधि-लहरि-लालं भङ्गुरं जीवितं नः,
अहमपि च तथा त्वं ब्रह्मणो नैव भिन्नः,
विषय-विषयि-भेदोऽतात्त्विको दृश्यमात्रम् ॥३०॥

यह जगत् मिथ्या है। ब्रह्म सत्य है। अन्य कुछ नहीं। हमारा जीवन समुद्र में उठती हुई लहर का बबूला है। मैं और तुम ब्रह्म से भिन्न नहीं। विषय और विषयी का भेद अतात्त्विक और दृश्य मात्र है।

इतिवदुरुपदिष्टो योगिभिः शास्त्रविद्भिः,
स्वयमभवदशंकः शांकरोऽद्वैतवादी।
अकृत जपमजस्रं "सोऽहमि"त्यादि मंत्रैः,
गुरुजन समुदायाद् योगविद्यामशिक्षत् ॥३१॥

शास्त्र जानने वाले योगियों के ऐसा समझाने पर बालक निस्सन्देह शङ्कर मत का अद्वैतवादी हो गया और सदा "सोऽहम्" 'सोऽहम्' का मन्त्र जपने लगा! ('सोहम्' का अर्थ है मैं वही ब्रह्म हूँ') और साधुओं से योग भी सीखने लगा।

नियतिनियमबद्धः पालयन् वर्णिधर्मं,
स्वयमपचत भोज्यं ब्रह्मचारी कराभ्याम्।
पठनहननहेतुं मन्यमानः तमर्थं,
पदमयतत सन्यासाश्रमे संनिधातुम् ॥३२॥

ब्रह्मचारी के धर्म को पालते हुये उसे अपने हाथों खाना बनाना पड़ता था। इससे पढ़ने में बाधा होती थी। इसलिये उसने संन्यास लेने की कोशिश की।

प्रथमवयसि संन्यासाश्रमो नैव योग्यः,
विषय-बलमजेयं मांसलं बालधीभिः ।
यदि मनसि न जातः शुद्ध चैतन्यभावः,
विरति-रहित पुंसां पीतवेशात् क्व लाभः ॥३३॥

बालकों को सन्यास लेना ठीक नहीं। जो पक्के नहीं हुये वह विषयों पर वश नहीं पा सकते। जब तक मन में यह भाव पक्का न बैठे कि मैं शुद्ध चेतन हूँ तब तक पीले कपड़े रंगने से क्या लाभ।

अनुभवयुत-वृद्धैरीदृशं चिन्तयद्भिः,
अभिमतिरपनीता वर्णिनस्तस्य यूनः ।
पुनरपि कृतयत्नो त्यक्तभोगानुरागः,
फलमलभत पूर्णानन्द-संन्यासि-हस्तात् ॥३४॥

अनुभवशील बूढ़ों ने ऐसा सोचकर उस युवा ब्रह्मचारी का संन्यास लेने का प्रस्ताव ठुकरा दिया, परन्तु जब उसने फिर यत्न करके यह दिखा दिया कि उसे ठीक २ वैराग्य हो गया है। तो पूर्णानन्द संन्यासी ने उसके मन की कामना पूरी की।

वर-निकष अकाषीदात्मतुष्ट्यै स्व-बुद्धे-
र्यतिवर उचितत्वं प्रार्थिनः प्रार्थनायाः ।
विविध विधि परीष्टे शुद्धचैतन्यकामे,
गुरुरदित सुसंन्यासाश्रमस्याशु दीक्षाम् ॥३५॥

पूर्णानन्द यति ने प्रार्थी की प्रार्थना के उचित होने को अपनी बुद्धि को अपने संतोष के लिये प्रखर कसौटी पर कसा जब उन्होंने परीक्षा ले ली कि शुद्ध चैतन्य की इच्छा ठीक है तो उन्होंने उसको संन्यास दे दिया ।

अदय-जगति दृष्ट्वा हिंसकानां कुवृत्ति,
दुरित-चरितमूलां घातिनीं विश्वशान्तेः ।
पुनरिह च दयाया भावमानेतुकामः,
नवयतिमकृतासौश्रीदयानन्द-नाम्ना ॥३६॥

यह देखकर कि दयाहीन जगत् में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ रही है और यह प्रवृत्ति सब पापों का मूल तथा विश्वशान्ति की घातक है और दया के भाव को फिर जगत् में लाना हैं उन्होंने इस यति को 'दयानन्द' नाम से अलंकृत किया ।

स्वजनकथितमूलो जीवनस्यादि मूले,
विकसति चितिजातः शुद्ध-चैतन्यनामा।
सदय-विभुदयायाश्छायया नन्दितः सन्,
चरम-वयसि पूर्णोऽभूद् दयानन्द आर्यः ॥३७॥

आयु के मूल अर्थात् बचपन में उसके सम्बन्धी उसे मूल (मूल शङ्कर) कहते थे। जब चेतनता जागृत हुई तो उसका नाम शुद्ध-चैतन्य हुआ। जब दयालु ईश्वर की दया की छाया पड़ने से आनन्दित हुआ तो पूरा श्रेष्ठ दयानन्द हो गया।

बिनय-नय-दयानां मूर्तरूपैकमूर्तिः,
असुधर-वरदाया वेदमातुः सुपुत्रः,
भुवन-जन समाजं-पापपंकाद् विमोक्तुं,
व्यचरदमर-कीर्तिः भारते यत्र तत्र ॥३८॥

नियम, नीति तथा दया की वह ज्ञानस्वरूप तथा आनन्द स्वरूप मूर्ति था। प्राणियों की वरदा माता वेद का सुपुत्र था। संसार के मनुष्यों को पाप की कीचड़ से मुक्त करने के लिये अमर कीर्ति दयानन्द ने विचरण करना आरम्भ किया।

इत्यार्योदये काव्ये गृहत्यागवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः।

अथ चतुर्दशः सर्गः

समर्चितात् कर्मठ-योगि-भूषणात्,
पूर्णात् पराऽऽनन्द-युतान्महात्मनः ।
संन्यास-दीक्षां विधिवत् गृहीतवान्,
कालं च चाणोदपुरे निनाय सः ॥१॥

कर्मठ योगियों के भूषण पूज्य महात्मा पूर्णानन्द से उन्होंने सन्यास की विधिवत् दीक्षा ली। और थोड़े दिनों चाणोद में रहे।

अध्यैष्ट विद्यामपरां तथा परां,
तपांस्यताप्सीत् सह साधु-तापसैः ।
मग्नौ तथा योगविधीन् यथा क्रमम्,
श्रीमद्दयानन्दयतिगुणाग्रणीः ॥२॥

परा और अपरा विद्या पढ़ी। साधुओं के साथ तप भी किया। और क्रमशः योग की विधियाँ भी सीखीं।

ज्ञानाल्पधारा न तुतोष योगिनं,
आढ्यं-भविष्णुं परमात्म-विद्यया।
इभा यथा नाल्पजलाशये मुदं
विन्दन्ति मण्डूक गणावगाहिते ॥३॥

परमात्म-विद्या के इच्छुक को ज्ञान की इतनी मात्रा ने संतोष नहीं दिया। मेंडकों के योग्य जलों में नहाकर हाथी प्रसन्न नहीं होते।

अतः स चाणोदममुञ्चदन्ततः।
गवेषयन् सुष्ठुतरां परिस्थितिम्।
इतस्ततोऽसौ विचचार चिन्तया,
कंचिन्न लेभे गुरुमिष्टदर्शिनम् ॥४॥

इसलिये वे चाणोद से चलदिये और पहली से अच्छी परिस्थिति की खोज करने लगे। वे यहाँ तहाँ गये परन्तु कोई ऐसा गुरु न मिला जो उनकी इच्छा पूरी कर सकता।

यदा श्रुतं तेन यदस्ति कश्चन,
परत्र देशे परमार्थ-तत्त्ववित्।
तत्रैव तद्दर्शन-लाभकामतः,
दधाव विद्याम्बु-पिपासु-चातकः ॥५॥

जब कभी उन्होंने सुना कि अमुक स्थान में कोई विद्वान् रहता है तो प्यासे चातक की भाँति विद्या का जल पीने के लिये वहाँ दौड़ गये।

व्यासाश्रमे योग-विधौ युयुत्सुणा,
चंचुप्रवेशः समपादि धीमता।
शिक्षां च स व्याकरणे गृहीतवान्,
छिन्नाडमध्ये खलु कृष्ण-शास्त्रिणः ॥६॥

व्यासाश्रम में जाकर योग की इच्छा करने वाले उन्होंने थोड़ा योग सीखा। और छिन्नाड में कृष्णशास्त्री से व्याकरण पढ़ा।

पुनः स चाणोदमवाप्तुमागमद्,
वेदस्य वै राजगुरोः सुशिक्षणम्।
स एमदाबादपुरे ततो ययौ,
ज्वाला-शिवानन्द सुसिद्धयोगिनौ ॥७॥

राजगुरु से वेद पढ़ने फिर चाणोद आये। फिर ज्वालानन्द तथा शिवानन्द योगियों के पास एमदाबाद आये।

आभ्यां गुरुभ्यां परमादरात् सुधी-
र्योगस्य रत्नानि महान्ति लब्धवान् ।
कृतज्ञतापूर्ण-सुभाषया सदा,
सस्मार गुर्वोश्च तयोर्द्वयोर्ऋणम् ॥८॥

बुद्धिमान् दयानन्द ने इन दोनों गुरुओं से योग की अमूल्य शिक्षायें प्राप्त कीं। वे सदा आदर की भाषा में इन दोनों गुरुओं के ऋण का संस्मरण किया करते थे।

ततः परं पर्यटनं निरन्तरं,
व्यधाद् परिव्राट् परमार्थ-चिन्तया ।
बहिर्मुखो गच्छति गन्ध-लिप्सया
कस्तूरिका-गन्धधरो यथा मृगः ॥९॥

जैसे कस्तूरी का हिरन अपनी नाभि में कस्तूरी रखते हुये भी सुगन्ध की खोज में इधर उधर फिरता है इसी प्रकार दयानंद ने भी परमार्थ की चिंता में देश विदेश फिरना आरम्भ किया।

हिमाद्रिकुक्षौ निवसन्ति योगिनो,
ये ब्रह्म-शास्त्रीय-रहस्यकोविदाः ।
निशम्य लोकश्रुतिमीदृशीमसौ,
हिमप्रदेशाभिमुखं प्रयातवान् ॥१०॥

उन्होंने सुना कि हिमालय की गुफाओं में बहुत ब्रह्म को जानने वाले योगी रहते हैं। अतः वे हिमालय की ओर चल पड़े।

सुरापगायां च हिमाचलांचले,
कुम्भे हरिद्वार-पवित्र-पर्वणि।
समाययुर्देश विदेशतो नराः,
स्नात्वापवर्गामरतासुखाप्तये ॥११॥

हिमालय के आंचल में हरिद्वार के कुंभ में गंगा के स्नान करके अमर अपवर्ग की सुख की प्राप्ति के लिये बहुत से लोग देश देश से आये।

दिगम्बरा अम्बर शून्य-कायकाः,
ये त्यक्तवन्तः सकलाश्च वासनाः।
यथाऽऽगता जन्मनि मातृयोनितः,
अदोषमादुर्जगतीतले तथा ॥१२॥

कुछ तो दिगम्बर अर्थात् नंगे थे। उन्होंने सब वासनायें छोड़ रक्खी थीं। और जिस रूप में माता के पेट से जन्मे थे उसी रूप में वे दोष रहित होकर संसार में फिरते थे।

काषाय-वस्त्राः यतयो महाशयाः,
संन्यस्त-गेहाः समुदारचेतसः ।
विभंज्य पाशान् य उ पुण्यपापयो-
रदर्शयन्नःत्मजगत् कुटुम्बताम् ॥१३॥

कुछ गेरुये वस्त्र पहने महात्मा लोग थे। जिन्होंने उदारता से अपना घर छोड़ दिया था। पाप और पुण्य के जालों को छोड़कर ये जगत् को अपना कुटुम्ब मानते थे।

प्रकाण्ड-पाण्डित्य-गुरुत्व-वाहिनः,
शास्त्रज्ञतामद्यमदेन गर्विताः ।
महीसुराः पाठयितु' न ये जनान्,
स्वीचक्रिरे पावनवैदिकीं श्रुतिम् ॥१४॥

कुछ बड़े बड़े ब्राह्मण पण्डित थे जो पाण्डित्य के बोझ को ढोने वाले तथा शास्त्री ज्ञान की शराब के नशे में मस्त पवित्र वेद वाणी को दूसरों को नहीं पढाते थे।

सन्ताभिधाःकेऽपि विरक्त-माधवः,
दलेष्वनेकेषु विभाजिताश्च ये।
पस्पर्धिरे दर्शयितु' परस्परं,
क्षुद्रास्ववस्थास्वपि गौरवं स्वकम् ॥१५॥

कुछ घर से विरक्त साधु थे जिनको 'सन्त' कहते हैं, यह कई दलों में बंटे हुये थे। और अपनी क्षुद्र अवस्था में भी अपनी उच्चता दिखाने के लिये एक दूसरे से स्पर्धा रखते थे।

नराश्च नार्यश्च सुदूरवर्तिनः,
सहस्रशस्तत्र विना परिश्रमम्।
गंगाम्बुनैवात्म-मनो-रथक्रयं,
कर्तुं समेयुः खलु कुम्भ-पर्वणि ॥१६॥

लाखों नर नारी दूर दूर से आकर बिना परिश्रम के केवल गंगाजल के बदले ही अपने मनोरथों को खरीदने के लिये कुंभ में आये हुये थे।

तस्मिन् घनीभूत-जनाम्बु-सागरे,
मत्स्या अनेका जनकाय-धारिणः।
स्तेना अनाचारचराश्च तस्करा,
समाययुर्दुष्टतमाः स्वभावतः ॥१७॥

उस मनुष्यों के गहरे समुद्र में बहुत से मगरमच्छ भी थे जिनकी आकृति तो मनुष्यों की सी थी जैसे चोर, दुराचारी, डाकू। यह भी अपने दुष्ट स्वभाव के कारण वहाँ आये थे।

आसीद् दयानन्द-मुनेस्तु भावना,
भिन्ना हरिद्वार-गतस्य मुख्यतः ।
समस्त दृश्यानुगतस्य दर्शकान्
द्रष्टुं स तत्वस्य लभेत सद् गुरून् ॥१८॥

परन्तु दयानन्द मुनि तो भिन्न प्रयोजन से ही हरिद्वार आये थे। संसार के समस्त दृश्यों में व्यापक जो महातत्त्व है उस तत्व के प्रदर्शक गुरुओं की उनको तलाश थी।

प्रभूत-पाखंड पयोधि-मज्जितान्,
अतात्त्विकान् तात्विक वेष-धारिणः ।
जनानपश्यत् स नृवंचकान् बहून्,
न सद्गुरुं किन्तु ददर्श कंचन ॥१९॥

परन्तु उनको कोई सच्चा गुरु नहीं मिला। ऐसे मूर्ख ठग मिले जो तत्वज्ञों का रूप बनाये थे और पाखण्ड के समुद्र में डूबे हुये थे।

नैराश्यनीहार हतार्थ-कोरकः,
दृष्ट्वाऽल्पतां सीमित शक्तिमन्त्रणाम् ।
संत्यज्य संदेहपरान् स मानवान्
जग्राह सर्वज्ञ गुरोः समाश्रयम् ॥२०॥

दयानन्द के मनोरथ की कली निराशा के तुषार से मुरझा गई। उन्होंने देख लिया कि मनुष्य अल्प है। उसकी शक्ति सीमित है। इसलिये मनुष्य रूपी संदिग्ध गुरुओं को छोड़कर सर्वज्ञ गुरु ईश्वर का आश्रय लिया।

यद् ग्रन्थ-जालेषु मनुष्य-कृत्सु सः,
रहस्यमाप्तु न शशाक बुद्धिमान्,
यत् स्वार्थवद्भ्यो न गुरुभ्य अपि वा,
येते तदाप्तुं प्रकृतेर्निरीक्षणात् ॥२१॥

वह बुद्धिमान् दयानन्द मनुष्यकृत ग्रन्थ जालों में जिस रहस्य की प्राप्ति न कर सका और स्वार्थी गुरु जिस रहस्य को उसे न समझा सके उसने चाहा कि उस रहस्य को वह प्रकृति के निरीक्षण से प्राप्त करे।

त्यक्त्वा हरिद्वारमयाद्धिमालयं,
प्रसिद्धभागांश्च ददर्श चक्षुषा।
पपौ गिरीन्द्रस्य सुधामयीं श्रियं,
चमत्कृतोऽभूच्च गिरीश-मायया ॥२२॥

हरिद्वार को छोड़कर वह हिमालय को चल दिया और अपनी आँख से बहुत से प्रसिद्ध भाग देखे। पहाड़ की अमृत-मयी श्री का पान किया। और ईश्वर की माया से बड़ा प्रभावित हुआ।

यथौ हृषीकेश मियाय टेहरी,
मपश्यदन्यान्यमठांश्च यत्नतः ।
ततस्त्य लोकैर्मिलद् यथाक्रमं,
चकार भूयः परमार्थ चिन्तनम् ।।२३।।

हृशीकेश गया। फिर टहरी गया। और यत्न से कई मठ। क्रमशः वहां के लोगों से मिला। और बहुत कुछ परमार्थ चिन्तन किया।

ओखीमठे वीक्ष्य सुदर्शनं नरं,
मठस्य लुब्धोऽधिपतिस्तमूचिवान् ।
उपेहि भो तात मदीय शिष्यतां,
लभस्व सम्पत्तिमिमां सुखप्रदाम् ।।२४।।

ओखीमठ के अध्यक्ष ने देखा कि यह तो बड़ा सुन्दर आदमी उसके जी में लोभ आया और उसने कहा! हे मित्र, तुम शिष्य बन जाओ। और मेरी इस सुखप्रद सम्पत्ति को प्राप्त लो।

प्रलोभनं प्राप्य समुत्थितं पुरः,
उवाच स त्यागभर्ता शिरोमणिः ।
मर्त्यस्य भोगस्य कृते क्व बुद्धिमान्,
त्यजेदमर्त्यं परमार्थसाधनम् ।।२५।।

प्रलोभन को सामने बड़ा पाकर त्यागियों के शिरोमणि दयानन्द ने उत्तर दिया कि बुद्धिमान् मनुष्य को नाशवान् भोग के लिये परमार्थ के अमर साधन को छोड़ना ठीक नहीं ।

त्वां वीक्ष्य साधुत्वधरं प्रलोभिन-
मसाधुवृत्तिं मम दूयते मनः ।
संन्यस्य सम्यक् सहसैषणात्रयं,
कथं पतेयं पुनरर्थ-बन्धने ॥२६॥

तुम साधु को लोभ में फंसा हुआ और साधुत्व के विरुद्ध आचरण करता देखकर मेरे मन को दुःख होता है। सहसा तीनों ऐषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) को त्यागकर फिर मैं लालच में क्यों फंसूँ ।

भवन्तु गार्हस्थ्यभृतो धनोच्चिताः,
धनस्य लिप्सा नहि तापसे शुभा ।
न पाल्यते येन निजाश्रमव्रतं,
स पाप-पंके पतितः पतिष्यति ॥२७॥

गृहस्थी लोग धन भरें। हमको धन धान्य की प्रवृत्ति शोभा नहीं देती। जो अपने आश्रम के धर्म को नहीं पालता वह पतित पाप के कीचड़ में गिरेगा ।

"जोषी" मठे केऽपि हितप्रिया जनाः,
प्रासादयँ स्तं वचनैर्मनोहरैः।
अयापयत् कालमसौ ततः परं,
पार्श्वस्थिते बादरि-नामके मठे ॥२८॥

जोशीमठ में कुछ अच्छे साधुओं से भेंट करके महामुनिजी को प्रसन्नता हुई। फिर उन्होंने कुछ समय बदरीनारायण के पास के मठ में गुजारा।

उवास वर्षाणि कियन्ति चोत्तरे,
गिरि-प्रदेशेषु नदी तटेषु वा, ।
स्मृत्वा परिव्राजक धर्म शीलतां,
स दक्षिणस्यां दिशि यातुमिष्टवान् ॥२९॥

कई वर्ष वे उत्तराखण्ड के पहाड़ों और नदियों के तटों पर विचरते रहे। फिर यह सोचकर कि सन्यासी का धर्म एक जगह ठहरना नहीं है दक्षिण की यात्रा आरंभ कर दी।

सुरापगायाः शपनस्समुद्र वयो-
स्तटेषु संस्थापित पत्तनेषु वा ।
प्रयाग काशी मथुरा जबल्पुरान्
गतो दयानन्द उदार मानसः ॥३०॥

गंगा और यमुना के तटों पर बसे हुये नगरों प्रयाग; काशी, मथुरा, तथा जबलपुर में भी उदार विचार वाले दयानन्द ने यात्रा की।

महद्घनीभूत तमोभिरावृते,
मृगैर्मृगेन्द्रै रुषिते च कानने।
विन्ध्याटवी मध्य गते वनस्थले,
यात्रा कृता तेन च नर्मदा तटे ॥३१॥

घने अंधेरे और हिरन तथा सिंहों के रहने के योग्य बनों में, विन्ध्याचल के जंगल में और नर्मदा के तट पर यात्रा की।

दृष्टं यदासीत् सुखदं च सुन्दरं,
दृष्टं यदासीदशिवं भयंकरं,
दृष्टं समस्तं सुख-दुःख मिश्रितं,
सुसाम्य वैषम्य समन्वितं जगत् ॥३२॥

जो सुन्दर और सुखद था वह भी देखा। जो बुरा भयंकर था वह भी देखा। सुख दुःख से मिला हुआ साम्य और वैषम्य से युक्त जगत् भी देखा।

संभाव्य नैसर्गिक-सृष्टिक्रमार्यनां,
संदृश्य च प्राणभृतां मनोगतिम् ।
संश्लिष्य बुद्धेश्च नृणां विशालतां,
बभूव यात्री खलु दीर्घ-दर्शकः ॥३३॥

सृष्टिक्रम की स्वाभाविक गति का मान करते करते प्राणियों की मन वृत्ति को जानते २ मनुष्यों की बुद्धि की विशालता का विश्लेषण करते २ यात्री दयानन्द अनुभवी बन गये ।

शुश्राव मार्गे शुभ सूचनामिमां,
यदस्ति दण्डी 'मथुराख्य' पत्तने ।
सरस्वती पुत्र उदात्त मानसः,
विद्यानिधिर्वेदमत प्रचारकः ॥३४॥

मार्ग में उन्होंने यह शुभ सूचना पाई कि मथुरा में एक दंडी रहते हैं। विद्या में वह सरस्वती के पुत्र हैं। उदात्त और उत्तम हैं। विद्या के खजाने हैं। और वेद के प्रचारक हैं ।

'यते' दयानन्द यदीष्यते त्वया,
शिवस्य सत्यस्य भवेद् गवेषणा ।
निषीद गत्वा "विरजस्य" पादयोः,
सन्देह-सिन्धोस्तु स एव नाविकः ॥३५॥

"हे यति दयानन्द, यदि तुम सत्य शिव की खोज करना चाहते हो तो विरजानन्द के पैरों में जा बैठो। सन्देह के समुद्र के वह तो मल्लाह हैं।"

प्रसन्न-चित्तो मथुरां ययौ यतिः,
अन्वेषमाणो विरजस्य सद्गृहम्।
ददर्श तिष्ठन्तमथाद्भुतं जनं,
चक्षुर्विहीनं कृशकाय तापसम् ॥२६॥

यति दयानन्द प्रसन्न चित्त होकर मथुरा चले गये, विरजानन्द का घर खोज लिया। वहां एक अद्भुत जन को बैठे देखा: आँखों से अन्धा और बहुत पतला तपस्वी।

चित्तस्य वृत्तेः सुनिरोधसाधनात्,
द्रष्टुः स्वरूपे समभूदवस्थितिः।
संत्यक्तरागस्य ततो तपस्विनः,
मन्ये कृशत्वं नहि कारणं विना ॥२७॥

चित्त की वृत्ति को निरोध करते २ उनकी दृष्टि बाहरी न रहकर भीतरी हो गई थी। तपस्वी को अपने तन से राग नहीं रहा था। मैं समझता हूँ कि उनका दुबलापन अकारण नहीं था।



ऋषि दयानन्द के गुरु
श्री स्वामी विरजानन्द जी सरस्वती

न्यूनत्वमाप्ता पृथुना तनूभृतः,
नामामलप्रज्ञ उदात्तमस्तकः ।
अन्तस्थभासास्य किल प्रकाशने,
भस्मावृतः सुप्त इवाशु शुक्षणिः ॥३८॥

शरीर की स्थूलता जाती रही। जिनके मस्तक उदार होते हैं वे मोटे नहीं हुआ करते। जैसे भस्म के नीचे आग चमकती है वैसे ही वे भीतरी प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

रजांसि सर्वाणि विधूय चेतसः,
तपस्यया ज्ञान जलेन शास्त्रवित् ।
रराज चाध्यात्मविदां सुमंडले,
सानन्दमात्मा विरजेति नामतः ॥३९॥

शास्त्र के ज्ञाता तपस्वी ने ज्ञान के जल से चित्त की समस्त रज (धूल) को धो डाला। और वे अध्यात्मज्ञान वालों की मंडली के रत्न बन गये। इसीलिये उस आनन्द युक्त आत्मा का नाम 'विरजानन्द' हुआ।

हत्वाऽहिमन्तःकरणस्य धीमता,
बहिर्मुखी वृत्तिरपाकृता धिया ।
बाल्ये रुजा नेत्रयुगे प्रणाशिते,
बभूव प्रज्ञानयन स्तदाख्यया ॥४०॥

इस बुद्धिमान ने अन्तःकरण के कुवासना रूपी सर्प को मारकर बुद्धि से बहिर्मुखी वृत्ति को हटा दिया। बालकपन में रोग से दोनों आंखें जाती रही थीं। इसलिये महात्मा का नाम 'प्रज्ञा चक्षु' हो गया।

भूगर्भमध्यस्थ सुवर्ण-नीरकान्,
अर्हन्त्य विज्ञा नहि मृत्तिकायुतान्।
तथा तमज्ञा मथुरा निवासिनः,
न पूजयन्ति स्म मुदा समादरात् ॥४१॥

भूमि के भीतर मिट्टी से मिले सोने के कणों का मान मूर्ख तो नहीं जान सकते। इसी प्रकार मथुरा के मूर्ख लोग भी इसका आदर सत्कार नहीं करते थे।

अपाठयत् तुच्छ गृहे विशिष्ट-वित्,
सामान्य शिष्यान् स यदा-कदाऽऽगतान्।
गुणज्ञनाभाव विहीन मानवान्,
प्रत्या-क्षिपेद् दिग्गज-मौक्तिकान् यथा ॥४२॥

यह विशेषज्ञ छोटे से घर में कभी कभी आने वाले साधारण विद्यार्थियों को पढ़ाया करता था। जैसे कोई गजमुक्ताओं को मूर्ख मनुष्यों के सामने फेंक दे।

अनादृताः साक्षर मूढ पंडितै
रवेदविद्भिश्च निजार्थ सिद्धिभिः ।
जित्वापि शास्त्र-पटु महारथी,
कोलाहलेनैव पराजितोऽभवत् ॥४३॥

पढ़े हुये मूर्ख वेद न जानने वाले, स्वार्थ पण्डित उसका आदर नहीं करते थे। इसलिये शास्त्रार्थ में जीतकर भी विचारा कोलाहल करके हरा दिया जाता था।

ग्रन्थाननार्षान् समवेक्ष्य चालितान्
न सत्य-सिद्धान्त-युतान् महामुनिः,
ग्रन्थेषु चार्षेषु विधातुमादरं,
जगज्जनानामकरोत् सदाऽऽग्रहम् ॥४४॥

यह देखकर कि अनार्य और असत्य ग्रन्थों का बहुत प्रचार है वे सदा आग्रह किया करते थे कि संसार में आर्य ग्रन्थों के प्रति आदर किया जाय।

नाभूत् परन्त्वस्य शरीर-साधनं,
रुगाधि तन्त्राग्र गतिं निबानन्वता ।
गुप्त्वा बहून् चेतसि सन्त्वनग्थान्,
स्वजीवन यापयतिस्म निःस्पृहः ॥४५॥

परन्तु इन में शारीरिक त्रुटि थी। अन्धेपन से गति में रुकावट होती थी। बहुत से मनोरथों को मन मे छिपाये निराशा का जीवन व्यतीत करता था।

हिनोतु मे कंचन शिष्य-मीश्वरो,
विचारयन्तं परमार्थ-चिन्तकम्।
यं ज्ञान रत्नैः समलंकरोम्यहं,
यश्चालयेद् धर्मपथे पुनर्जगत् ॥४६

ईश्वर मुझे अच्छा शिष्य भेज देवे जो विचारशील और परमार्थ की बात सोच सकता हो। उसको मैं ज्ञान के गहनों से अलंकृत कर दूँ और वह संसार को ठीक मार्ग पर चला सके।

समीक्ष्य संसिद्ध-सुबुद्धतापसं,
कलिर्दयानन्द हृदः सुपुष्पिता।
पश्यन्ति सूरिं समुदारसूरयो,
दिवीव सुस्थं खलु चक्षुराततम् ॥४७॥

सिद्ध और चैतन्य-युक्त तपस्वी को देखकर दयानन्द के हृदय की कली खिल गई। बुद्धिमान् को बुद्धिमान् ही देख सकते हैं जैसे सूर्य को विकसित और स्वस्थ आंख।

कस्त्वं कथं वा मम गेहमागतो,
यतिं युवानं गुरुरुक्तवान् वचः ।
अहं भवज्ज्ञान-समुद्रतःसुधा-
मिहागतः पातुमहोऽस्मि कांचन ॥४८॥

गुरु ने युवा यति से पूछा कि तुम कौन हो और मेरे घर कैसे आये । उसने उत्तर दिया कि मैं आपके ज्ञान के समुद्र से कुछ अमृत की बूंदें लने आया हूँ ।

विद्यातृषार्तेन मया चिरंकृतं,
देशाटने सद्गुरुमाप्तुमिच्छया ।
परन्तु रिक्ता परमार्थ-विद्यया,
प्रतीयते मे खलु पुण्यमेदिनी ॥४९॥

विद्या की पिपासा से दुखी होकर मैंने सद्गुरु की तलाश में बहुत देशाटन किया । परन्तु मुझे ही ऐसा प्रतीत होता है कि दुनिया परमार्थ की विद्या से खाली है ।

रत्नाकरस्त्वं भगवन्निति श्रुतं,
ज्ञानस्य वेदस्य पुरातनस्य च ।
अतो भवत्पाद-रजांसि मस्तके,
धर्तुं समायामि गुरो कृपानिधे ॥५०॥

भगवन् मैंने सुना है कि आप प्राचीन वेद के ज्ञान के साग हैं। इसलिये कृपालु गुरु मैं आपके पैरों की धूलि अपने मस्तव पर रखने आया हूँ।

श्रुत्वा दयानन्द-मुखान्निवेदन-
मुपस्थितं यद्यपि नम्र शिष्यवत् ।
अनाश्रवोऽभाषत शुष्क-तापसः,
गिरं युत न परुषां भयप्रदाम् ॥५१॥

यद्यपि दयानन्द ने नम्रता से निवेदन किया था तो भी उनके इन वचनों को सुनकर सूखे तपस्वी ने विना आदर किये भयप्रद और सख्त बात कही।

भवन्ति संन्यासिन उग्र-वृत्तयः,
सम्मान्यते तैर्न मुदा नियन्त्रणम् ।
अयन्त्रितानां न भवेत् सुपाठनं,
न पाठयिष्यामि ततस्तथा-विधान् ॥५२॥

संन्यासी लोग उश्रृंखला होते हैं। वे प्रसन्नता से निमंत्रण को नहीं मानते। बिना नियन्त्रण के विद्या नहीं पढ़ाई जा सकती। इसलिये मैं ऐसों को नहीं पढ़ाता।

संबोधितोऽसौ यतिनेत्थमुक्तवान्,
सुतन्त्रिता वाचमनर्थ-वारिणाम्,
प्रभो दयालो कृपया परीक्ष्यतां,
विद्या-पिपासार्त-जनस्य धीरता ॥५३॥

यतिवर ने जब इस प्रकार सम्बोधन किया तो दयानन्द ने अनर्थ को दूर करने वाली नियमित बात कही :— हे कृपालु प्रभु। आप विद्या के प्यासे मनुष्य की धीरता की परीक्षा भी कर लीजिये।

आचार्य ऊचे पठनार्थिनं पुनः,
यदि क्षिपस्त्व सकलान् सरिज्जले।
ग्रन्थाननार्षान् भ्रमजाल-मूलकान्
तदा त्वयान्ते पठितुं ममेष्यताम्॥५४॥

आचार्य ने विद्यार्थी से फिर यह बात कही कि यदि तुम अनार्ष और भ्रममूलक ग्रन्थों को नदी में बहा दो तो मेरे 'अन्ते-वासी' हो सकते हो।

इत्यार्योदये काव्ये गुरुप्राप्तिर्नाम चतुर्दशः सर्गः।

अथ पंचादशः सर्गः

किमार्षं किमनार्षं वा, नैव जानामि किंचन,
कृपयाऽखिलमज्ञाय, विज्ञापयतु मे भवान् ॥१॥

"मैं नहीं जानता कि आर्ष क्या ? और अनार्ष क्या ? आप कृपा करके समझाइये ।"

इत्यपृच्छद् यदा शिष्यो, विनयान्वित-भाषया ।
ईषत्कोपेन वाक्यानि, विरजानन्द उक्तवान् ॥२॥

जब शिष्य ने विनयपूर्वक यह पूछा तो कुछ कुछ क्रोध से विरजानन्द बोले ।

शृणु रे बाल संन्यासिन्, सत्यविद्याप्तिमूलकम् ।
रहस्यं ज्ञेयमस्माभिः पाठकै र्वटुकैस्तथा ॥३॥

"हे बाल सन्यासी, सत्य विद्या की प्राप्ति का रहस्य सुनो जो आचार्य और शिष्य दोनों को जानना चाहिये ।"

या या मुनिमहर्षीणां, वाणी कल्याणकारिणी ।
सरला सुखदा मध्वी प्रोक्ता पर-हिताय सा ।४॥

सा सा सर्वा हि विज्ञेया, लोकैरार्षा सुबुद्धिभिः ।
पठनं पाठनं तस्याः, सर्वेषां हि हितप्रदम् ॥५॥

जो कुछ अपि महर्षियों ने सरल, सुखद, मधुर और कल्याणकारी वाणी दूसरों के हित के लिए कही है उसी को बुद्धिमान् लोक आर्ष कहते हैं, उसी के पठन पाठन से हित होता है ।

यद् यत् तु रचितं धूर्तैं र्जटिलं स्वार्थ-सिद्धिभिः ।
वंचनार्थं मनुष्याणां, तदनार्ष मुदीरितम् ॥६॥

परन्तु जो कुछ स्वार्थी धूर्तों ने मनुष्यों को ठगने के लिये कठिन बनाया वह अनार्ष है ।

बद्ध-पाणिर्दयानन्दो, हर्ष-लब्धयुताननः ।
चक्षुषाहीनमाचार्यं, पुनरेवमभाषत ॥७॥

हर्ष से मुसकरा के दयानन्द ने हाथ जोड़कर अन्धे आचार्य से फिर कहा।

त्वत्प्रदत्तप्रभाभासा नश्यतीति प्रतीयते ।
किंचित् किंचिद्धताशस्य, मम हृच्छर्वरी-तमः ॥८॥

"भगवन् मुझे ऐसा लगता है कि आपके दिये हुये प्रकाश से मुझ हत-बुद्धि की हृदय की रात्री का अंधेरा कुछ नष्ट हो रहा है ।

विषयेऽस्मिंस्तु वांछामि, श्रोतुं शिक्षां सुधामयीम् ।
अधिकं कृपयाऽऽचार्यः, पुनर्विज्ञापयत्विति ॥९॥

इस विषय में आपकी अमृतरूपी शिक्षा मैं अधिक सुनना चाहता हूँ । आप और उपदेश करें ।

संतुष्टो विरजानन्दो, नव शिष्यस्य वार्तया ।
बालकस्यास्य बोधाय, पुनर्वचनमब्रवीत् ॥१०॥

विरजानन्दजी ने नये शिष्य की बात से संतुष्ट हो उनके बोध के लिये फिर कहा ।

शृणु मे वचनं तात, विस्तरेण ब्रवीमि ते ।
का हानिः कश्च वा लाभ, आर्षानार्षप्रवृत्तितः ॥११॥

मेरी बात को उदाहरण की रीति से सुनो कि आर्ष और अनार्ष के स्वरूपों से क्या हानि है और क्या लाभ।

मंक्त्वा सिंधौ यथा लोकः, एकधैवाहरेदिह।
मौक्तिकानामनर्घाणां राशिं निजकराङ्कगाम् ॥१२॥

जैसे समुद्र में डुबकी लगाकर मनुष्य एक बार ही बहुमूल्य मोती निकाल लाता है।

तथैवाल्पेन कुर्वन्ति बहुलाभान् श्रमेण नु।
आर्ष ग्रन्था अधीताः स्युर्यदि सम्यग्विधानतः ॥१३॥

इसी प्रकार यदि आर्ष ग्रन्थ ठीक रीति से पढ़ाये जायं तो थोड़े परिश्रम से बहुत फल देते हैं।

खनित्वा पर्वतान् तुंगान् मूषिकोऽपि न लभ्यते।
प्रापयति न साफल्यं तथैवानार्ष-पद्धतिः ॥१४॥

जैसे पहाड़ खोदने पर चूहा भी न निकले ऐसे ही अनार्ष पद्धति से पढ़ाया हुआ फल नहीं लाता।

व्याकरोति न सिद्धान्तं सम्यक् सिद्धान्तकौमुदी।
क्लिष्टा क्लेशाय बालानां रचिता दीक्षितेन सा ॥१५॥

सिद्धान्त कौमुदी सिद्धान्त को व्यक्त नहीं करती। दीक्षित ने इस क्लिष्ट ग्रन्थ को बालकों को कष्ट देने के लिये बनाया है।

अनेकास्तद्विधा ग्रन्था रचिताः पण्डित-ब्रुवैः।
त्यक्तव्याः सर्वथा पुंभि स्तत्त्व-जिज्ञासुभिः सदा ॥१६॥

बहुत से पण्डित कहलाने वालों ने ऐसे ही अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। तत्व जानने के इच्छुकों को इन ग्रन्थों का परित्याग करना चाहिये।

"भवानेव प्रमाणं मे," दयानन्दो न्यवेदयत्।
चिक्षेप यमुनानद्यां ग्रन्थान् भ्रान्तियुतांस्तथा ॥१७॥

दयानन्द ने कहा, आप जैसा कहेंगे करूँगा। और भ्रान्त युक्त ग्रन्थों को यमुना में फेंक दिया।

व्याकरणं समारब्धं सुकरं पाणिनेर्मुनेः।
श्रमेण तपसा सार्धं ब्रह्मजिज्ञासुना मुदा ॥१८॥

और उस ब्रह्म की जिज्ञासा करने वाले दयानन्द ने श्रम, तप और मोद के साथ पाणिनि की सुगम अष्टाध्यायी आरम्भ कर दी।

अन्यथाऽपि गुरोः सेवा कृता तेन निरन्तरम् ।
उदकं चानयन्नद्या, गेहं नित्यममार्जयत् ॥१९॥

वे अन्यथा भी गुरु की नित सेवा करते थे। नदी से उनके लिये पानी लाते और घर में झाड़ू देते थे।

अंगहीनत्व-दीनत्वं नैराश्यं जीवने तथा ।
अजीजनन् गुरौ वृद्धे, क्रोधवृत्तिं बृहत्तराम् ॥२०॥

अंधापन, दरिद्रता तथा जीवन की निराशाओं ने गुरु विरजानन्द को चिड़चिड़ा बना दिया था।

दान्तः शान्तः दयानन्दः सेहे सर्वं निरन्तरम् ।
प्रजज्वाल यदा वह्निः चिक्षेप शीतलं जलम् ॥२१॥

परन्तु नियन्त्रित और शान्त दयानन्द उस सबका सहन करते थे। जब आग भड़कती तो उस पर शीतल जल छिड़क देते थे।

एकदा स दयानन्दं दण्डेनाताडयत् क्रुधा ।
क्षत-चिह्नं सदा तस्य भुजदंडे समावसत् ॥२२॥

एकबार उन्होंने क्रोध में दयानन्द को डंडे से पीटा। उसके घाव का चिह्न उनकी बांह पर सदा रहा।

व्यदसन्न गुरौभक्ते लेशोऽपि ब्रह्मचारिणः।
बद्धपाणि-र्वचः स्निग्धमाचार्यं प्रत्युवाच सः ॥२३॥

परन्तु ब्रह्मचारी दयानन्द ने गुरु की भक्ति में लेश मात्र भी कमी नहीं की वे हाथ जोड़कर आचार्य से कहने लगे।

भगवन् कोमले हस्ते तव पीडा भविष्यति।
न किंचिदपि जानीते ममेयंचायसी तनुः ॥२४॥

भगवन् आपके कोमल हाथ में पीड़ा होती होगी। मेरी देह लोहे की है। इस पर कुछ प्रभाव नहीं होता।

विरजो विरजानन्दो वात्सल्येन प्रपूरितः।
दयानन्दाय शिष्याय परं स्नेहमदर्शयत् ॥२५॥

विमल विरजानन्द भी शिष्य दयानन्द पर बड़ा वात्सल्य प्रेम दिखाया करते थे।

सूर्यस्य खलु सूर्यत्वं चक्षुषैव प्रयुज्यते।
चक्षुषोऽपि च पूर्णत्वं सूर्यादेवाधिजायते ॥२६॥

सूर्य का सूर्यत्व आँख से ही मालूम होता है। और आँख की पूर्णता भी सूर्य से ही होती है।

तथैव विरजानन्दः प्राप्य शिष्यमपूर्वकम् ।
संतुतोष यतो विद्या मम मृत्यौ न नश्यति ॥२७॥

इसी प्रकार विरजानन्द को भी अपूर्व शिष्य दयानन्द को पाकर वह संतोष हो गया कि अब मेरे मरने पर मेरी विद्या नष्ट न होगी।

कोषं विलक्षणं लब्ध्वा विद्याया महतो गुरोः ।
मेने जीवन-साफल्यं दयानन्दो महायशाः ॥२८॥

इतने बड़े गुरु से विद्या का विलक्षण कोष पाकर महाशय दयानन्द ने अपने जीवन को सफल माना।

चकार विरजानन्दो दयानन्दमृषिं परम् ।
दयानन्दस्तथाचार्यं कीर्तिमन्तं समाकरोत् ॥२९॥

विरजानन्द ने दयानन्द को बड़ा ऋषि बना दिया। दयानन्द ने भी आचार्य विरजानन्द को कीर्तिमान् कर दिया।

सह तावावतां, तौ चाभोक्तां, वीर्यं च चक्रतुः ।
व्यद्विषातां न, चाधीतमासीत् तेजस्वि चोभयोः ॥३०॥

दोनों ने एक दूसरे की रक्षा की । एक दूसरे को आनन्द को भोग कराया । एक दूसरे के सामर्थ्य की वृद्धि की ।

उन दोनों में द्वेष न था । पढ़ा पढ़ाया दोनों के लिये तेजस्विता का साधन बना (जैसा कि तैत्तिरीय का वचन है "सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषावहै) ।

वर्षत्रयं गुरोःपार्श्वे न्यवसत् खल्वसौ व्रती ।
यावद्दीक्षासुसम्पन्नो लोक क्षेत्रे पदं दधौ ॥३१॥

व्रती दयानन्द तीन वर्ष गुरु के पास रहे । फिर उन्होंने दीक्षा प्राप्त करके लोक क्षेत्र में पैर रक्खा ।

दक्षिणा गुरवे देया, का देया निर्धनेन वै ।
असूदयद् दयानन्दं चिन्तेयं तु गरीयसी ॥३२॥

दयानन्द को यह बड़ी चिंता हुई कि गुरु को दक्षिणा देनी है । मैं निर्धन क्या दे सकता हूँ ?

कस्माच्चित् स समानीय लवंगं मुष्टिसंमितम् ।
लज्जया श्रद्धया चैतत् दधावाचार्यपादयोः ॥३३॥

किसी से एक मुट्ठी लोगं लाकर लज्जा और श्रद्धा से गुरु के चरणों में रख दीं ।

भगवन् भिक्षुको दीनः किंकरश्चाल्पसाधनः ।
दक्षिणामर्पयत्येषः शिष्यस्तुच्छामकिंचनः ॥३४॥

"भगवन् में दीन भिखारी हूँ । मेरे पास कुछ साधन नहीं । यह मैं आपका शिष्य यह तुच्छ भेंट लाया हूँ ।

प्रसीद कुरु ताताज्ञां देहि मह्यं शुभाशिषम् ।
तरेयं येन संसारं सिन्धुं नावेव दुष्करम् ॥३५॥

प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये । मुझे आशीर्वाद दीजिये । जिसके द्वारा मैं संसार से तर जाऊँ जैसे नाव द्वारा समुद्र को ।

यथा काष्ठं कलाकारः कुरुते वस्तु सुन्दरम् ।
कुम्भकारो विनिर्माति मृत्तिकाया घटं यथा ॥३६॥

जैसे कलाकार काठ से अच्छी वस्तु बना देता है या कुंभार मिट्टी से घड़ा बना देता है ।

तथैव काष्ठतुल्याय मृत्समानाय मेऽथवा ।
प्रदत्तं मानुषं रूपं त्वया श्रेष्ठं कृपालुना ॥३७॥

इसी प्रकार आपने कृपा करके मुझ काठ या मिट्टी के लौंदे को मनुष्य बना दिया ।

संदिग्धोऽहं समायातो भगवत्-पादयोःपुरा ।
विमुक्त-मोहजालस्तु गच्छाम्यद्य सुशिक्षितः ॥३८॥

जब मैं श्री चरणों में आया तो संदेहों से भरा हुआ आया अब मैं सुशिक्षित और मोहजाल से मुक्त होकर जा रहा हूँ ।

ऋणवांस्तातपादेभ्यः संजातः शुभ-शिक्षया ।
ब्रजेयं साधनात्कस्मादानृण्यमिति कथ्यताम् ॥३९॥

मैं आपकी शुभ शिक्षा का ऋणी हूँ । बताइये मैं इस ऋण से कैसे छूट पाऊँ ।

तात मन्ये न दीनस्त्वमित्यदादुत्तरं गुरुः ।
कथं दारिद्र्य्भूमिः स्यादात्मज्ञान-समन्वितः ॥४०॥

गुरु ने उत्तर दिया, हे प्यारे मैं नहीं मानता कि तुम दीन हो । जिसमें आत्म ज्ञान है वह दरिद्री कैसा ।

नरस्य भास्वतो यस्य हृदि ज्वलति पावकः।
स एव मोक्षमाप्नोति दग्ध्वान् पापजालकम् ॥४१॥

जिस प्रकाशवान पुरुष के भीतर आग जलती है। वही पापों को भस्म करके मोक्ष पा सकता है।

कामये न धनं तात न धान्यं न लवंगकम्।
दक्षिणा तूचिता देया त्वया शिष्येण धीमता ॥४२॥

हे प्यारे, मैं न धन चाहता हूँ। न धान्य, न लौंग, तुम जैसे बुद्धिमान शिष्य को तो चाहिये कि उचित दक्षिणा देवे।

मूकस्तस्थौ दयानन्दः किं कर्तव्य-विमूढवत्।
किं प्रेयो गुरुवर्यस्य कामाज्ञां दास्यति प्रभुः ॥४३॥

दयानन्द चुप खड़े सोचते रहे कि क्या किया जाय? गुरु जी को क्या प्रिय है? वे क्या आज्ञा देते हैं।

अश्रुणा हर्षजातेन गम्भीरेण स्वरेण च।
अवोचन्मधुरो वाचं गुरुर्गुर्वर्थगर्भिताम् ॥४४॥

हर्ष के आँसू और गंभीर स्वर से गुरु ने गम्भीर अर्थ वाली मधुर वाणी बोली।

जीवनं मरणं तात प्राप्यते सर्व-जन्तुभिः ।
स्वार्थं त्यक्त्वा परार्थाय यो जीवति स जीवति ॥४५॥

हे प्यारे मरते जीते तो सभी प्राणी हैं । जो स्वार्थ को छोड़कर दूसरों के लिये जीता है । वही वस्तुतः जीता है ।

महा क्लेशं जनो भुङ्क्ते मिथ्या-धर्म-प्रचारतः ।
प्रथाभ्यो भ्रान्ति-युक्ताभ्यस्त्वमेवोद्धतु मर्हसि ॥४६॥

मिथ्या धर्म के प्रचार से संसार को बहुत दुःख मिल रहा है । भ्रान्ति युक्त प्रथाओं से लोक को तुम्हीं छुड़ा सकते हो ।

आबाल्यादद्यपर्यन्तं प्रत्यैक्षेहं निरन्तरम् ।
प्राप न त्वादृशं शिष्यं येनेच्छा मे प्रपूर्यताम् ॥४७॥

मैं बालकपन से लेकर आज तक निरंतर प्रतीक्षा करता रहा । तुझ जैसा शिष्य नहीं मिला जिससे मेरी इच्छा पूरी होती ।

ईश्वरं साक्षिणं कृत्वा साहसेन बलेन च ।
वेद-धर्म-प्रचारस्य प्रतिज्ञा क्रियतां त्वया ॥४८॥

ईश्वर को साक्षी करके साहस और बल के साथ तुम प्रतिज्ञा करो कि वेद धर्म का प्रचार करोगे।

भ्रान्ति-मेघ-समाच्छन्नो यावद् वेद-दिवाकरः।
तावद्राजिष्यते लोके धर्मः शान्तिर्न वा सुखम् ॥४९॥

जब तक वेद के सूर्य पर भ्रान्ति के बादल हैं तब तक लोक में धर्म, शान्ति और सुख का राज्य नहीं हो सकता।

आर्यावर्तेऽपि कालेऽस्मिन् वेद-धर्म-विरोधिनः।
'आर्य' नाम-धरा लोका आचरन्ति मतान्यताम् ॥५०॥

आर्यावर्त में भी इस समय वेदधर्म के विरोधी आर्य कहलाने वाले अन्धविश्वास को फैलाते हैं।

व्रतेन तपसा भक्त्या प्रतिज्ञेयं त्वया कृता।
सहस्रं दक्षिणा-तुल्या तोषं मह्यं प्रदास्यति ॥५१॥

व्रत, तप और भक्ति से जो तुम प्रतिज्ञा करोगे वह मेरे लिये हजार दक्षिणाओं के समान सन्तोष देने वाली होगी।

क्षणं तस्थौ दयानन्द ऊहापोह-निमज्जितः ।
ईशं व्रतपतिं ध्यात्वा चोत्ससर्ज वचस्तदा ॥५२॥

दयानन्द क्षण भर तो विचार में डूबे खड़े रहे। फिर व्रतपति ईश्वर का ध्यान करके बोले।

पालयिष्याम्यहं तात तवाज्ञां शोभनामिमाम् ।
करोतु मम साहाय्यं सविता व्रतचारिणः ॥५३॥

हे गुरुजी मैं आपकी इस शुभ आज्ञा का पालन करूँगा। ईश्वर मुझ व्रत करने वाले की सहायता करें।

इत्यार्योदये काव्ये 'गुरुदक्षिणा' नामा पंचदशः सर्गः ।

अथ षोडशः सर्गः

भीष्मं समालम्ब्य महाव्रती व्रतं,
संस्पृश्य पादौ च गुरोः समादरात्।
स्वालम्बनाभ्यासमनास्तपोधनः,
स आगरा-पत्तनमाययौ ततः ॥१॥

महा व्रती तपोधन दयानन्द भीष्म-व्रत को शिरोधार्य करके और आदर के साथ गुरु के पैर छूकर स्वालम्बन अभ्यास के लिये आगरा शहर को चले आये।

उद्यानमासील्लघु यामुने तटे,
वैश्यस्य गुल्लूमल-नाम-धारिणः।
यत्रावसन् लोक-विरक्त-साधवो,
वर्ष-द्वयं तत्र युवाप्युवास सः ॥२॥

यमुना तट पर गुल्लूमल सेठ का एक छोटा सा बाग था। जहाँ विरक्त साधु ठहरा करते थे। युवा दयानन्द ने भी दो बरस वहीं व्यतीत किये।

मनुष्य-शुष्मस्य निभाल्य सान्ततां,
विचार्य कार्यस्य तथा विशालताम् ।
अवेत्य नान्यां स जगत्पतेर्गतिं
गुरोर्गुरूणां शरणं समागमत् ॥३॥

यह देखकर कि मनुष्य की शक्ति परिमित है और यह विचार कर कि कार्य बड़ा विशाल है और यह सोचकर कि ईश्वर से भिन्न सभी निर्बल हैं दयानन्द ने गुरुओं के गुरु ईश्वर की शरण ली ।

योगादृते शक्तिमुपैति नो पुमान् ,
विनात्म-शक्त्या नहि साध्य-साधनम् ।
अतोऽधिगन्तुं बलमात्मनः परं,
चकार बह्वीः खलु योग-साधनाः ॥४॥

बिना योग के मनुष्य को शक्ति नहीं मिलती । बिना शक्ति के साध्य नहीं बनता । इसलिये बल की प्राप्ति के लिये उन्होंने बहुत सी योग की साधनायें कीं ।

यदाकदा तत्र समागतैर्जनैः,
जिज्ञासुभिः साधु समागमप्रियैः ।
महाजनैः सुन्दरलालसन्निभैः ।
शंका-समाधानमकारि तोषदम् ॥५॥

कभी कभी साधुओं से प्रेम रखने वाले सुन्दरलाल आदि जिज्ञासुओं की शंकाओं का भी संतोष प्रद समाधान किया जाता रहा।

इत्थं शनैरर्गलवायुमण्डल-
मगाध-विद्याम्बुनिधिमसंगतः ।
भ्रमाग्निदाहोत्थिततापशङ्करं
बभूव संन्यासिसुकीर्तिवाहकम् ॥६॥

इस प्रकार धीरे धीरे आगरा नगर का वायुमण्डल अगाध विद्या के समुद्र के संपर्क से भ्रमरूपी अग्नि के दाह का बुझाने वाला और संन्यासी की कीर्ति को फैलाने वाला बन गया।

यदा दयानन्द-विचार-दर्पणे,
दधै कयाचिद् विचिकित्सया मलम् ।
उपस्थितोऽसौ गुरुपादपंकजे,
संदेहपंकं च मुदा न्यवारयत् ॥७॥

जब कभी दयानन्द के विचार रूपी दर्पण में किसी शंका के कारण कुछ मैल उत्पन्न हुआ तो उन्होंने हर्ष पूर्वक गुरुजी के चरण कमल में उपस्थित होकर संदेह के मल को दूर कर लिया।

सुभूषितो ज्ञान-महार्घ-भूषणैः,
सुसज्जितो युक्तिबृहद्बलायुधैः ।
सुयोजितो योगरहस्य-शक्तिभि-
र्वेद-प्रचारार्थमृषिः स निर्ययौ ॥८॥

ज्ञान के बहुमूल्य आभूषणों से सुभूषित, युक्तियों के शस्त्रों से सुसज्जित, योग की शक्तियों को लेकर ऋषि वेद प्रचार के लिये निकल पड़ा ।

हिरण्यगर्भश्च महद्यशाः प्रभु-
र्न तस्य जाता प्रतिमा कदाचन ।
दधाति नो जन्म स रामकृष्णयोः
न जन्ममृत्यू भवतो महेश्वरे ॥९॥

ईश्वर हिरण्यगर्भ (प्रकाशक मंडलों को गर्भ में रखने वाला), महद् यश (बड़े यशवाला) है । उसकी कोई प्रतिमा नहीं है । (देखो यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३) । वह राम या कृष्ण का जन्म धारण नहीं करता । वह जन्म मरण के फंदे से बहुत दूर है ।

स पूज्यते किन्तु न मूर्तिपूजया,
न वैदिकी, पापमयी हि सा प्रथा ।
प्रचालिता भागवतादि-पुस्तकैः,
पुराण नाम्ना प्रथितैर्नवैर्नृभिः ॥१०॥

उसी की पूजा करनी चाहिये। परन्तु मूर्ति द्वारा नहीं। मूर्ति पूजा वैदिक प्रथा नहीं है। मूर्ति पूजना पाप है। यह तो पुराण कहलाने वाले नये भागवत आदि ग्रन्थों द्वारा नये लोगों ने प्रचलित की है।

इत्यादि सिद्धान्तमपूर्व-वर्णितं,
निशम्य लोका अभवन् विशंकिताः।
भ्रान्त्या क्वचिल्लोभवशात् तथा क्वचिद्,
धर्मस्य मार्गं रुरुधु-र्विरोधिनः ॥११॥

ऐसे पहले न वर्णन किये जानेवाले सिद्धांतों को सुनकर लोग चकित हो गये। कहीं कहीं भ्रांति से और कहीं २ लोभ से विरोधियों ने धर्म के मार्ग में रुकावट डाली।

यत्रापि कुत्रापि जगाम तत्त्ववित्,
तथा च पाखण्डमतान्यखण्डयत्।
पूजारिभि र्विग्रह-पूजने रतैः,
प्रदर्शिताः क्षुद्र-जनै र्विभीषिकाः ॥१२॥

जहाँ कहीं तत्ववेत्ता दयानन्द गये और पाखंड मतों का खंडन किया वहीं पूजा के शत्रुओं (पुजारियों) और मूर्ति पूजा करने वाले क्षुद्र लोगों ने डर दिखाया।

बहुत्र शास्त्रार्थसमुत्सु[illegible]
बहुत्र शस्त्रार्थपराः कु[illegible]
दुराग्रहादन्ध-परम्परा-हठाद्,
जना अभूवन् बहुधैव दु[illegible]

ग्वालीगढे भागवतस्य भूभृता,
कथा पुराणस्य नियोजिता यदा ।
महर्षिणा सुष्ठुतया निदर्शिताः,
पुराणदोषाः बहुदूषणाः कथाः ॥१४॥

ग्वालियर में राजा ने भागवत की कथा का आयोजन किया था। वहाँ ऋषि ने अच्छी प्रकार से भागवत के दोष दिखाये और उसकी अनिष्टता सिद्ध की।

राज्ये करोलीत्यजमेरपत्तने,
पुरे जयाख्ये कुशले च पुष्करे ।
धर्मस्य पाण्डित्ययुता विवेचना,
चकार लोकान् सुकृतार्थजीवनान् ॥१५॥

गुरूपदेशस्मरणेरितो यतिः,
कृत-प्रतिज्ञो व्रत-पालने रतः ।
प्रपक्व-सिद्धान्त-बलाप्त-साहसः,
पुनश्च तत्रैव मुदा समाययौ ॥१८॥

यतिवर गुरु के उपदेश का स्मरण करके और अपनी की हुई प्रतिज्ञा में रत, सिद्धान्तों के अब परिपक्व होने पर साहस को प्राप्त करके फिर हरिद्वार लौटे । अर्थात् पहले तो शिष्य की अवस्था थी अब इतना अध्ययन करने के पश्चात् गुरु की अवस्था हो गई ।

ददर्श दृश्यं स तदेव पूर्ववत्,
मतान्धता सैव तथा विडम्बना ।
अजाविवल्लोकजना व्यवाहरन्,
न वेद धर्मं विविदु र्मनु-प्रजाः ॥१९॥

उन्होंने कुंभ में वही पहला दृश्य देखा । वही मतान्धता वही विडम्बना । लोग भेड़ बकरी के समान व्यवहार करते थे । मनु की सन्तान वेदों को नहीं समझ रही थी ।

अधर्मगर्तादवितुं जगज्जनान्,
कर्तुं तथा वंचकमान-मर्दनम् ।
जनौघ-मध्ये च सुरापगा-तटे,
दधे स पाखण्ड-विखण्डनीं ध्वजाम् ॥२०॥

संसार के लोगों को अधर्म के गढ़े से बचाने के लिये और धोखेबाज़ों का मान मर्दन करने के लिये उन्होंने गंगा के तट पर मनुष्यों की भीड़ के बीच पाखण्ड-खण्डिनी पताका गाड़ दी।

न मूर्तिपूजा विहिता श्रुतौ क्वचिद्,
भागीरथीस्नानमलं न मुक्तये ।
पाषाण खण्डे भुवनेशभावना,
बालु-प्रदेशे मृग-तृष्णिकासमा ॥२१॥

वेदशास्त्रों में मूर्तिपूजन नहीं है। न स्नान मात्र से मोक्ष मिलता है। पत्थर के टुकड़े में ईश्वर की भावना करना रेत में जल की प्रतीति के समान है।

आश्चर्यसंव्यात्तमुखै र्विवेकिभि-
स्तत्रागतै र्नूतन भाव-संयुता ।
स्पष्टा प्रमाणैः समलंकृता मुदा,
श्रुता दयानन्द-महर्षि-वक्तृता ॥२२॥

वहां आये हुये विवेकी लोगों ने आश्चर्य से मुंह बाये हुये ऋषि दयानन्द के नये भावों से संयुक्त स्पष्ट प्रमाणों से अलंकृत व्याख्यान को बड़े हर्ष से सुना।

स्वजीविका चिन्तितमूर्ति-पूजकै-
र्देवालयद्रव्य-समाश्रितै र्नरैः।
विद्यां विना ब्राह्मणनामधारिभिः,
कोलाहलं मूढ़जनैः कृतं महत् ॥२३॥

ऐसे मूर्तिपूजक मूढ लोगों ने बहुत शोर मचाया जो अपनी जीविका की चिंता में थे और देवालयों की आय से ही जिनका पेट पालन होता था या जो बिना विद्या के ही ब्राह्मण कहलाते थे।

तत्त्वं समिच्छद्भिरनेक-पंडितै-
रकारि शास्त्रार्थ-विमर्श-योजना।
पराजिता युक्ति-बलात् सदर्थिनः,
स्वीचक्रिरे पक्षमृषेः शनैः शनैः ॥२४॥

ऐसे अनेक पंडितों ने जो तत्त्व के खोजी थे शास्त्रार्थ की योजना बनाई और युक्तियों के बल से पराजित होकर शनैः शनैः ऋषि का मत स्वीकार कर लिया।

जडास्ति मूर्तिः प्रभुरस्ति चेतनो,
जडस्तुति नैव च मोक्ष-साधनम् ।
निशम्य सिद्धान्तमनेकमानवा,
अपूज्य-पूजां सहसैव तत्यजुः ॥२५॥

मूर्ति जड़ है। ईश्वर चेतन है। जड़ की पूजा से मोक्ष नहीं मिल सकता। इस सिद्धान्त को सुनकर बहुतों ने मूर्तिपूजा छोड़ दी।

साधु महानन्द इयाय पर्वणि,
पूर्वं न वेदान् हि ददर्श यो जनः ।
ज्ञात्वा दयानन्द-मतं स बुद्धिमान् ,
बभूव वेदानुग आत्म-तत्त्ववित् ॥२६॥

कुंभ पर महानन्द साधु आये। उन्होंने पहले वेद नहीं देखा था। उन्होंने दयानन्द का मत स्वीकार कर लिया और वे आत्म-तत्त्व के जाने वाले वेदानुयायी बन गये।

एकस्य बिन्दोस्तु विशोधनेन किं,
क्षाराम्बु-संव्याप्त-महोदधौ सति ।
इतीव चिन्ता भव-चिन्तयाप्लुतं,
पुनश्च भूयोपि यतिं ह्यदुःखयत् ॥२७॥

जब समस्त समुद्र खारे जल से भरा हो तो एक विन्दु के शोधने से क्या लाभ ? संसार की चिंता से चिंतित दयानन्द को यह चिंता बहुत दुःख देने लगी ।

अमा निशीथे घनवृत्रवन्नभ—
स्तमिस्रयाखिन्न-समस्त जन्तवः ।
अहं तु खद्योत-ज-भा-सम द्युतिः,
कथं प्रकाशै निविडां क्षपामिमाम् ॥२८॥

अमावस की आधी रात ! घने बादल से घिरा आकाश, सब प्राणी अंधेरे से खिन्न । मुझ में पट बीजने के समान थोड़ा सा प्रकाश, मैं इस अंधेरी रात के अंधेरे को कैसे हटा सकता हूँ । ऋषि ऐसा सोचने लगे ।

संदेह-संकोच-विनष्ट-साहसः
कार्यस्य काठिन्यमुदीक्ष्य सोऽबिभेत् ।
अज्ञान-वृत्राहि-विघात-कर्मणि,
शतक्रतोः शक्तिरपेक्ष्यते ध्रुवम् ॥२९॥

संदेह और संकोच के कारण स्वामी दयानन्द का साहस टूट गया । और वे कार्य की कठिनता से डर गये । अज्ञान रूपी वृत्र सांप को मारने के कर्म में निश्चय ही इन्द्र की शक्ति आवश्यक होती है ।

तपस्ययाऽग्निर्हृदये समेधते,
तपस्यया चैति मनो विशुद्धताम् ।
तपस्ययाऽन्तर्विकसन्ति शक्तयः,
तपस्ययाऽऽप्नोति बलं परं पुमान् ॥३०॥

तपस्या से हृदय में अग्नि प्रज्वलित होती है । तपस्या से मन शुद्ध होता है । तपस्या से भीतर की शक्तियां विकसित होती हैं । तपस्या से मनुष्य को पूरा बल मिलता है ।

अतस्तपस्याव्रतमाचरन्मुनिः,
सर्वस्वसंत्यागमना अजायत ।
गात्रस्थ वासांसि विहाय संयमी
कौपीन-मात्रैकपटश्चचार सः ॥३१॥

अतः तपस्या व्रत धारण करने के लिये दयानन्द ने चाहा कि सब कुछ त्याग दूँ । शरीर के वस्त्र भी त्याग दिये । केवल कौपीन रक्खी ।

जुगोप वाचं विजहौ च वक्तृतां,
मौनं हि भावोऽस्ति मुनेर्मनस्विनः ।
अन्तःस्थशक्तेः परिवर्धनप्रियो,
बाह्यानि तत्याज सुखानि तापसः ॥३२॥

मौन रहे। व्याख्यान देना बन्द कर दिया। मुनि का भाव ही मौन रहना है। भीतरी शक्ति को बढ़ाने के हेतु बाहर के सुखों को छोड़ दिया।

पर्यट दोषोषसि जाह्नवीतटे,
त्यक्त्वा नृणां संवसथान् प्रयत्नतः।
कन्दैश्च मूलैश्च फलैर्यथा तथा।
चकार निर्वाहमयाचितैः सदा ॥३३॥

रात दिन गंगा तट पर घूमते रहे। बस्तियाँ में जाने से बचते थे। बिना मांगे जो कन्दमूल या फल मिलता उसे खा लेते।

तपोदम-त्याग-विशुद्धजीवनः
पुनः प्रबुद्धान्तरसुप्त-शक्तिमान्।
प्रयुध्यमानः कुविचार-शक्तिभिः,
प्रारब्ध कार्यं पुनरप्युषबुधः ॥३४॥

तप दम और त्याग से शुद्ध जीवन वाले दयानन्द की भीतरी सोई हुई शक्तियाँ जाग उठीं। उस नई बुद्धि वाले ने कुविचार की शक्तियों से युद्ध ठान कर फिर काम करना आरम्भ कर दिया।

जगाम पाण्डित्य युतान् स मानवान्,
पुराण-दोषान् क्रमशो न्यदर्शयत् ।
अवैदिकत्वं जडवस्तु-पूजने,
भ्रष्टत्वमाचारविचारयोस्तथा ॥३५॥

वे विद्वान् पंडितों के पास गये और उनको पुराणों के दोष दिखाये। और यह भी कहा कि जड़ वस्तु की पूजा वैदिक नहीं है। आचार विचार की भ्रष्टता को भी बताया।

रात्रौ गतायामुषसि स्फुरत्प्रभे,
द्रष्टुं समर्थे भवतोऽक्षिणी यथा ।
तथा दयानन्ददिवाकरोद्गमे,
संबोधनेत्रे उदमीलतां नृणाम् ॥३६॥

रात्रि बीतने और उषा का प्रकाश होने पर जैसे आँखें देखने में समर्थ हो जाती हैं उसी प्रकार दयानन्द के आने पर लोगों की बुद्धि की आँखें खुल गईं।

इत्यार्योदय काव्ये व्रतारंभोनाम षोडशः सर्गः ।

अथ सप्तदशः सर्गः

बहवाः पंडिता मुग्धा दयानन्दर्षियुक्तिभिः ।
प्रतिमा देव-देवीनामखिलाः सलिलेऽक्षिपन् ॥१॥

बहुत से पंडितों ने ऋषि दयानन्द की युक्तियां से प्रभावित होकर देवी देवतों की मूर्तियाँ जल में बहा दीं ।

टीकारामेण विप्रेण, कर्णवासनिवासिना,
व्याख्यानं स्वामिनः श्रुत्वा, त्यक्तं विग्रहपूजनम् ॥२॥

कर्णवास के टीकाराम ब्राह्मण ने स्वामी का व्याख्यान सुन कर मूर्तिपूजा छोड़ दी ।

महान्तं पंडितं मत्वा, हरिबल्लभ-नामकम् ।
केचिन्निमन्त्रयामासुर्दयानन्दविरोधिनः ॥३॥

कुछ दयानन्द के विरोधियों ने हरि बल्लभ को बहुत बड़ा पंडित समझकर बुलाया ।

आगतः साभिमानं सः ग्रन्थसंघातसंयुतः ।
कारयिष्यामि मूढेन, मूर्तिपूजामिति ब्रुवन् ॥४॥

वह बहुत सी पुस्तकें लेकर अभिमान से आया और कहने लगा, "मैं इस मूढ से मूर्तिपूजा करा के छोड़ूंगा।"

क्रमेलः पर्वते गत्वैवानुमाति स्वतुंगताम्।
वागाहवे पराभूय, स्वीचकार निजभ्रमम् ॥५॥

ऊँट पहाड़ तले आता है तो उसे अपनी ऊँचाई का अनुमान होता है। उसने शास्त्रार्थ में हार कर अपनी भूल स्वीकार करली।

दृष्ट्वा पराजितान् विप्रानित्थं बेलोनवासिनः।
उररीचक्रिरे सर्वे, दयानन्दमतं मुदा ॥६॥

इसी प्रकार बेलोन के लोगों ने भी ब्राह्मणों को हारते देखकर हर्षपूर्वक दयानन्द का मत स्वीकार कर लिया।

अटन्नटन्नयाद्विद्वान् फर्रुखाबाद पत्तने।
कंचित् कालं तु तत्रैव, जगन्नाथगृहेऽवसत् ॥७॥

चलते चलते विद्वान् स्वामी फर्रुखाबाद पहुँचे। और कुछ दिनों वहीं सेठ जगन्नाथ के मकान पर रहे।

सूर्य्यो जडो ग्रहो नूनं जडा गंगापगा तथा।
कदापि चेतनैः पुंभि र्जडवस्तु न पूज्यताम् ॥८॥

सूर्यनक्षत्र जड़ है। गंगा नदी जड़ है। चेतन मनुष्यों को जड़ की पूजा कभी नहीं करनी चाहिये।

इति नूतन निर्देशं, श्रुत्वैव श्रीमुखाज्जनाः।
परम्परा-विभिन्नत्वान् मेनिरे न च मेनिरे ॥९॥

स्वामी जी के श्री मुख से ऐसा नया निर्देश सुन कर जो परंपरा के विरुद्ध था लोगों का कभी जी चाहता था कि मान लें। कभी चाहता था न मानें।

अंगदः शूकरे क्षेत्रे, विज्ञः भागवते महान्।
दयानन्देन शास्त्रार्थं, कृतवान् मूर्ति पूजने ॥१०॥

सोरों में भागवत के महान् पंडित अंगद शास्त्री ने दयानन्द से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया।

पराजिते स्वपक्षेऽसौ विद्वान्निष्पक्षपाततः।
पर पक्ष-मतं मत्वा विजहौ देवता जडाः ॥११॥

इस विद्वान् ने अपना पक्ष परास्त हुआ पाकर निष्पक्ष होकर दूसरे का पक्ष स्वीकार कर लिया और जड़ देवताओं को छोड़ दिया।

वेदानामादरं कुर्वन् , पूजयन्नेकमीश्वरम् ।
पुराणान्यंगदस्त्यक्त्वा दयानन्दानुगोऽभवत् ॥१२॥

वेदों का आदर करने वाले, एक ईश्वर को पूजने वाले अंगद शास्त्री पुराणों को छोड़ कर स्वामी दयानन्द के अनुयायी हो गये ।

अनूपशहरान्तेऽपि गंगायाःशोभने तटे ।
यापयामास कालं सः वेदधर्मं प्रचारयन् ॥१३॥

अनूप शहर में गंगा के सुंदर तट पर स्वामी दयानंद वेद का प्रचार करते हुये कुछ दिन ठहरे ।

केन्द्रं संस्कृतविद्यायाः प्रत्ना वाराणसीपुरी ।
सहस्रेभ्यस्तु वर्षेभ्यो मूर्तिपूजाऽऽश्रयोऽभवत् ॥१४॥

प्राचीन काशी, संस्कृत विद्या का केन्द्र हज़ारों वर्षों से मूर्ति पूजा का केन्द्र बनी हुई थी ।

देवीनां चैव देवानां मन्दिराणि शतान्यपि ।
कल्पितानां पुराणैश्च, राजन्ते तत्र सर्वतः ॥१५॥

यहां पुराणों के कल्पित देवी देवताओं के सैकड़ों मन्दिर हर जगह पाये जाते हैं ।

विदुषां तत्र सर्वेषामियमासीद्धि धारणा ।
मूर्तिपूजा विधेयाऽस्ति, हिन्दूधर्मस्य पुस्तके ॥१६॥

यहाँ सब विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि हिन्दू धर्म की पुस्तकों में मूर्तिपूजा तो विहित ही है ।

वेदास्तु विस्मृताः सर्वैः, सद्युगार्हाः पुरातनाः ।
कल्पितानि पुराणानि कलि-धर्म-प्रचारकैः ॥१७॥

वेदों को सबने यह कह कर भुला दिया कि यह पुराने हैं और सत्ययुग के योग्य हैं । कलियुग के धर्म को अलग मानने वालों ने पुराणों की कल्पना करली ।

बहवो ब्राह्मणा आसन्, पूजा-पालित-जीवनाः ।
ददृशुर्जीविकाहानं, मूर्ति-पूजन-खण्डने ॥१८॥

जिन बहु संख्य ब्राह्मणों की पूजा के चढ़ावे से ही जीविका चलती थी उन्होंने देखा कि मूर्तिपूजा का खण्डन करने से जीविका जाती है ।

दयानन्दस्य ते कीर्तिं यत्र तत्र ततां जनैः ।
आकर्ण्य स्वार्थसिद्ध्यर्थं विरोधं चक्रिरे भृशम् ॥१९॥

उन्होंने जब देखा कि लोग यहाँ वहाँ स्वामी दयानन्द की कीर्ति फैला रहे हैं तो उन्होंने बहुत विरोध किया।

गते कुम्भे हरिद्वारे, विशुद्धानन्दपंडितः।
विमर्शमृषिणा चक्रे, काशीस्थो मूर्तिपूजने ॥२०॥

पिछले कुंभ पर हरिद्वार में काशी के विशुद्धानन्द पंडित ने ऋषि के साथ मूर्तिपूजा पर विचार किया था।

केचिद् वाराणसीं गत्वा कृत्वा षड्यन्त्रणां तथा।
प्रतिरोद्धुं दयानन्दं, व्यवस्थामानयंस्ततः ॥२१॥

कुछ लोग काशी जाकर षड्यंत्र रचकर दयानन्द के विरुद्ध व्यवस्था ले आये।

काशीस्थानां तु पांडित्य-मनुमाय विशालदृक्।
तत् प्रभावं च निश्चिक्ये काशीं जेतुं श्रुतिप्रियः ॥२२॥

विशाल दृष्टि वाले और वेद को प्यार करने वाले दयानन्द ने काशी वालों के पाण्डित्य का और उनके प्रभाव का अनुमान लगाकर काशी-विजय का निश्चय कर लिया।

ऋतुनेत्रांकचन्द्रेऽब्दे ऊर्जमासे सिते दले।
समागमद् दयानन्दो विश्वनाथस्य पत्तनम् ॥२३॥

१९२६ वि० के आश्विन के शुक्ल पक्ष में स्वामी दयानन्द विश्वनाथ पुरी (काशी) में आ विराजे।

काशीनरेश्वरो धीमा नाकर्ण्यर्षिशुभागमम्।
श्रद्धया कारयामास, सत्कारस्य सुयोजनाम् ॥२४॥

बुद्धिमान् काशी नरेश ने ऋषि का आना सुनकर श्रद्धा से उनके सत्कार का प्रबन्ध करा दिया।

दास्यामि प्रतिमासं ते शतं मुद्राः सदा प्रभो।
माकार्षीः कृपया स्वामिन् मूर्ति-पूजन-खण्डनम्।

"भगवन्! मैं आप को सदा १०० रु० मासिक देता रहूँगा। आप कृपा कर मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें"।

इत्थं निवेदितो राज्ञा, निजगाद तपोधनः।
राजन् राज्ञां कथं राज्ञः, आज्ञाभंगं करोम्यहम् ॥२६॥

तप ही है धन जिसका ऐसे ऋषि से राजा ने जब ऐसा निवेदन किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि हे राजन् राजों के राजा ईश्वर की आज्ञा को कैसे भंग करूँ।

सत्स्वरूपो निराकारो निर्विकारो विभुः प्रभुः।
तस्य जन्म च मूर्तिं च मत्वाऽभूत् किल्विषी नरः ॥२७॥

ईश्वर सत्स्वरूप, निराकार, निर्विकार और विभु हैं। इसके जन्म और मूर्ति को मानकर मनुष्य पापी हो गया।

पाषाणमीश्वरस्थाने पूजं पूजमयं पुमान्।
विस्मृत्य जगदाधारं जायते जड-बुद्धि-भाक् ॥२८॥

ईश्वर के स्थान में पत्थर पूजते पूजते ईश्वर को भूल कर मनुष्य जड़-बुद्धि हो जाता है।

इन्द्रमित्स्तोत विद्वांसो, माचिदन्यद् विशंसत।
ऋग्वेदे स्रष्टुरादेशः सखायो मा रिषण्यत ॥२९॥

ऋग्वेद में ईश्वर की आज्ञा है कि हे विद्वानो इन्द्र की स्तुति करो दूसरे की उपासना न करो। हे मित्रो, दुःख मत उठाओ।
(देखो ऋग्वेद ८।१।१)

भंगमीशितुराज्ञानां कृत्वा कृत्वा जगज्जनाः।
आप्नुवन्ति महद् दुःखं, पतन्तः किल्विषार्णवे ॥३०॥

संसार के लोग ईश्वर की आज्ञा का भंग करते करते पापी जीवन में फंसकर बहुत दुःख उठा रहे हैं।

वीक्षसे किं न हे राजन् वाराणस्यां हि तत्फलम्।
मन्दिरेष्वेव भक्तानां छल-संश्लिष्टजीवनम् ॥३१॥

हे राजा क्या तुम काशी में ही इसका फल नहीं देख रहे। मन्दिरों में भक्तों का जीवन कितने धोखे का है।

सत्ये तु यदि निष्ठा स्या-दश्रद्धा चाऽनृते तव।
शास्त्रार्थं कारयाऽध्यक्ष, महद्भिः सह-पंडितैः ॥३२॥

अगर आप को सत्य में श्रद्धा और झूठ में अश्रद्धा है तो अपने बड़े पण्डितों से हमारा शास्त्रार्थ करा दीजिये।

परितो वेष्टितं भूपं, धन-लोलुप-जन्तुभिः।
सज्जनं शक्तिहीनं तु, दृष्ट्वाऽत्याक्षीत्स तद्गृहम् ॥३३॥

राजा थे तो भले मानस परन्तु लोभी पंडितों से घिरे हुए थे। इसलिये उनको निर्बल देखकर स्वामी जी उनके घर से चल दिये।

दुर्गाकुंड-समीपस्थां, सदसन्निर्णयप्रियः।
आनन्दवाटिकामेत्य, सानन्दं स समूषिवान् ॥३४॥

सत् और असत् के निर्णय का प्यारा दयानन्द दुर्गाकुण्ड पर आनन्द बाटिका में आनन्द से रहने लगा।

प्रतिमा पूजन-द्वेषी दयानन्द इहागमत्।
इत्याकर्ण्य गताः क्षोभं काशीनगरवासिनः ॥३५॥

मूर्तिपूजा का शत्रु दयानन्द आ गया। ऐसा सुनकर काशी वासी बड़े घबराये।

क्व आगतः कथं वा सः, किं वा तेन करिष्यते।
परस्परं स्म पृच्छन्ति, विभीताः सर्व-मानवाः ॥३६॥

कौन आया? कैसे आया? क्या करेगा? सब डरे हुये मनुष्य ऐसा पूछने लगे।

हिन्दुर्वाऽपि मुसल्मानः यदि वा ख्रीष्ट-पूजकः।
कीदृशो मन्यते यो न, मूर्तिपूजां-सनातनीम् ॥३७॥

हिन्दू है या मुसलमान या ईसाई। यह कैसा आदमी है कि सनातन से चलती आई मूर्तिपूजा को नहीं मानता।

सत्यानि चाप्यसत्यानि कल्पितानि श्रुतानि वा।
प्रसारितानि तत्रस्थै र्वचांसि त्रस्तमानवैः ॥३८॥

वहां के डरे हुये लोगों ने सत्य, असत्य, सुनी या कल्पित बहुत सी बातें फैला दीं।

देवालयेषु चिन्ता वै, दृश्यते स्म गरीयसी।
अब्रह्मण्यमिति क्षुब्धा लोकाः सर्वत्र चाब्रुवन् ॥३९॥

सबसे बड़ी चिंता देवालयों में देखी जाती थी। सब घबराये लोग कहते थे कैसा ग़ज़ब हो गया।

दयानन्दस्य विद्याया गुप्त-रीत्या परीक्षणम्।
विधातुं प्रेषयामासुः, शिष्यान् केचिद् विचक्षणाः ॥४०॥

कुछ चतुर लोगों ने चुपके चुपके दयानन्द की परीक्षा लेने के लिये अपने शिष्य भेजे।

आनन्द-वाटिकामाऽऽयन्, धर्म-पीयूष-कांक्षिणः।
अन्वहं श्रीमुखाच्छ्रोतुं, धर्मं श्रौतं सनातनम् ॥४१॥

धर्म के अमृत को चाहने वाले लोग आनन्द बाग में प्रतिदिन आया करते और स्वामी जी के मुख से सत्य सनातन वेद की बातें सुना करते।

युक्तीनां च प्रमाणानां, दृष्ट्वा लोका विशालताम्।
ऋषि-विद्याम्बुधेः पार-ममेयमिति मेनिरे ॥४२॥

लोग युक्तियों और प्रमाणों की विशालता को देखकर ऐसा मानते थे कि ऋषि के विद्या के समुद्र की थाह नहीं मिल सकती।

महर्षिणा समाहूताः, शास्त्रार्थाय मुहुर्मुहुः ।
समक्षं न समागन्तुं, शेकिरे केऽपि पंडिताः ॥४३॥

ऋषि ने बार बार शास्त्रार्थ 'को बुलाया परन्तु किसी पंडित का सामने आने का साहस न हुआ ।

अन्ततो मुनिवर्येण राजारामाख्य-शास्त्रिणम् ।
सम्बोध्य प्रेषितं पत्रं, कर्तुं 'शब्द' निरूपणम् ॥४४॥

अन्त में स्वामी जी ने राजाराम शास्त्री को पत्र लिखा कि 'शब्द' क्या है । इसका निरूपण करो ।

उत्तरेऽस्य तु पत्रस्य, राजारामो न्यवेदयत् ।
दधावच्छुरिकामेका-मावयोरन्तरे द्वयोः ॥४५॥

इस पत्र के उत्तर में राजाराम ने कहला भेजा कि हम तुम दोनों अपने बीच में एक छुरी रखलें ।

पराजितस्य शास्त्रार्थे नासामन्यो निकृन्ततु ।
शास्त्रार्थः शक्यते कर्तु-मंगीकार्यमिदं यदि ॥४६॥

जो हारे, जीतने वाला उसकी नाक काटले । यदि ऐसा स्वीकार हो तो शास्त्रार्थ हो सकता है ।

द्वाभ्यां धार्ये ध्रुवं द्वे द्वे, एकस्या अस्ति का कथा ।
दर्शय शस्त्रशूरत्वं, शास्त्रं चेद् रोचते न ते ॥४७॥

ऋषि ने उत्तर दिया। एक क्यों। दो दो रखलो। शास्त्र तुम को नहीं सुहाता। शस्त्र-शूर होकर ही दिखाओ।

राजारामोऽभवत् तूष्णीं, गर्वे चूर्णीकृते सति ।
कीर्तिस्तु द्विगुणो जाता, दयानन्दतपोनिधेः ॥४८॥

गर्व चूर्ण होने पर राजाराम चुप हो गये। परन्तु दयानन्द तपस्वी की ख्याति दूनी हो गई।

आहूताः सर्व विद्वांसः, पृष्टा भूपवरेण च ।
अस्ति वेदेषु किं ब्रूत, प्रतिमा-पूजनं न वा ॥४९॥

राजा ने सब विद्वानों को बुलाकर पूछा। "बताओ तो वेद में मूर्तिपूजा है या नहीं।"

सर्वथाऽज्ञातवेदास्ते, स्वात्मगौरवलोलुपाः ।
कथंचित् तोषयामासुर्युक्त्याभासेन भूपतिम् ॥५०॥

उन्हें वेद तो ज्ञात न था। अपना गौरव चाहते थे। किसी प्रकार झूठ सच मिलकर राजा का संतोष कर दिया।

अन्तर्भीता बहिर्वीराः साहसाभास-संयुताः ।
अवितुं येतिरे काशीं चातुर्येण स्वलाघवात् ॥५१॥

भीतर से डरे हुये। बाहर से बहादुर। झूठे साहस को दिखाने वाले। कोशिश करते थे कि काशी की लाघव से रक्षा की जाय।

राजन् शास्त्रेण शस्त्रेण, नयेन वाऽनयेन वा।
येन केन प्रकारेण, धर्मशत्रुं पराजयेत् ॥५२॥

उन्होने कहा, हे राजा शास्त्र से या शस्त्र से नीति से या कुनीति से, किसी प्रकार धर्म के शत्रु को तो हराना ही चाहिये।

त्वया वाराणसीभूप ! आहूतव्या महासभा ।
जेतुं शक्ता वयं धूर्तं सार्द्धं नगरवासिभिः ॥५३॥

हे काशी के राजा सभा बुलाओ। नगर वासियों की सहायता से हम इस धूर्त को अवश्य जीत लेंगे।

एकाकी स, वयं नाना, भवच्छक्ति महीयसी ।
अवश्यं दृश्यतामेषः काशीविजयसाहसी ॥५४॥

वह अकेला है। हम बहुत हैं। आप का बल बहुत है। काशी के विजय का साहस करने वाले इसको तो देखना ही चाहिये।

द्वादश्यां मंगले वारे, मासे च कार्तिके शुभे।
दयानन्देन शास्त्रार्थो नरेशेन नियोजितः।५५॥

कार्तिक की द्वादशी मंगल वार दयानन्द से शास्त्रार्थ करने के लिये राजा ने नियत किया।

झञ्झावातस्य वेगेन, व्यथते सागरो यथा।
जनाम्बुधौ तथा काश्या महाक्षोभो व्यजायत ॥५६॥

जैसे आंधी आने पर समुद्र में तूफान आता है वैसे ही काशी के मनुष्य रूपी सागर में तूफ़ान आ गया।

सति क्षुब्धे यथा सिन्धौ व्याकुला जलजीविनः।
तथा च वारिधेः काश्याः स्थितिः प्रलयवायुवत् ॥५७॥

जैसे समुद्र के क्षुब्ध होने हर जल के जीव व्याकुल हो जाते हैं इसी प्रकार काशी के समुद्र में ऐसा प्रतीत होता था कि प्रलय की वायु आ गई।

अपराह्णे तिथौ तस्मिन्, काशी राज-विभूषिता ।
आनन्दवाटिका-मध्ये संजाता महती सभा ॥५८॥

उस तिथि को तीसरे पहर राजा के सभापतित्व में बड़ी सभा हुई ।

आयन् शास्त्रविदो विप्रा, आयन् पांडित्यदंभिनः ।
आयन् युयुत्सवो धूर्ता, आयन् जिज्ञासवो जनाः ॥५९॥

शास्त्र के जानने वाले पंडित आये। विद्या का दंभ करने वाले भी आये। झगडालू धूर्त भी आये और जिज्ञासु भी आये।

किं सत्यं किमसत्यं वा, प्रश्नोऽयं खलु विस्मृतः ।
दयानन्दं विजेष्याम, एषाऽभूत् तुमुलध्वनिः ॥६०॥

यह प्रश्न तो भुला दिया गया कि सत्य क्या है असत्य क्या है ? यही शोर था कि दयानन्द को जीतेंगे ।

दृष्ट्वा महर्षिभक्तैः सा वाराणस्याः परिस्थितिः ।
ऋषि-रक्षण-चिन्ता तान्, पुरुषान् पर्यपीडयत् ॥६१॥

महर्षि के मित्रों ने काशी की परिस्थिति देखी। ऋषि की रक्षा की चिंता उनको सताने लगी ।

रक्षणीयो दयानन्दः, प्रहाराद् विघ्नकारिणाम् ।
कार्यो योगः समीचीन इति राजानमब्रुवन् ॥६२॥

उन्होंने राजा से कहा कि विघ्नकारियों के प्रहार से दयानन्द की रक्षा करनी चाहिये । ऐसा प्रबंध कीजिये ।

ध्यानं न केनचिद् दत्तं, तेषां किन्तु निवेदने ।
प्रमुखानां नृणां नीति र्विमला न ह्यदृश्यत ॥६३॥

परंतु उनके कहने पर किसी ने ध्यान नहीं दिया । प्रमुख लोगों की नीति निर्मल न थी ।

बलदेव-प्रसादेन, दयानन्दानुगामिना ।
दर्शिता महती चिन्ता गुरु-जीवन-रक्षणे ॥६४॥

दयानंद के शिष्य बलदेव प्रसाद को गुरुदेव की रक्षा की बड़ी चिंता थी ।

दयानन्दस्तु निर्भीकस्तस्थौ तत्र हिमाद्रिवत् ।
सुदृढः शीतलः शान्तो विशालो निश्चलो महान् ॥६५॥

परन्तु स्वामी दयानन्द तो बिना डर के हिमालय के समान बैठे थे, दृढ़, शीतल, शांत, विशाल, निश्चल और महान् ।

गदितं गुरुदेवेन "बलदेव ! बिभेषि किम् ।
जानीहि बलदातारमितरः किं करिष्यति" ॥६६॥

गुरुदेव बोले। "बलदेव क्यों डरता है ? बल के दाता ईश्वर को जान ! अन्य कोई क्या करेगा।"

रघुनाथप्रसादेन, कोटपालेन भक्तितः ।
रघुनाथप्रसादेन सुकृता रक्षण-क्रिया ॥६७॥

भारतराज के कोतवाल रघुनाथ प्रसाद ने रामचन्द्र के यश को याद करके रक्षा का सुप्रबन्ध कर दिया।

बालः शिवसहायश्च विशुद्धानन्दमाधवौ ।
जयनारायणश्चन्द्रः देवदत्तश्च वामनः ॥६८॥

बाल शास्त्री, शिव सहाय, विशुद्धानन्द, माधवाचार्य, जय नारायण, चन्द्र, देवदत्त, वामनाचार्य ।

राधामोहनकैलाशौ विप्रो मदनमोहनः ।
वेदान्ती मयकृष्णश्च गणेशः श्रोत्रियस्तथा ॥६९॥

राधामोहन, कैलाश चन्द्र, मदन मोहन, मयकृष्ण वेदान्ती, श्रोत्रिय गणेशदत्त,

हरिकृष्णो नवीनश्च ताराचरणतर्कवित् ।
एते सर्वे समासीना विविधोपाधिधारिणः ॥७०॥

हरिकृष्ण, नवीन चन्द्र, तारा चरण तर्करत्न यह सब उपाधि धारी जमा हुये ।

ताराचरण आचार्यः प्रमुखो राजपंडितः ।
आरेभे तत्र शास्त्रार्थमाज्ञया परिषत्पतेः ॥७१॥

सभापति की आज्ञा से प्रमुख राजपंडित तारा चरण तर्करत्न ने शास्त्रार्थ आरंभ किया ।

वेदेभ्य एकमन्त्रं भो मूर्ति-पूजन-मण्डने ।
ब्रूहीति मुनिना पृष्टस्तर्करत्नस्तु नाशकत् ॥७२॥

ऋषि ने पूछा "वेद से मूर्तिपूजा के मण्डन में एक भी मंत्र दिखाओ"। तर्करत्न जी न दिखा सके ।

अथ प्रमोददासेन दृष्ट्वा सम्यक् परिस्थितिम् ।
प्रस्तुतं, विषयः कश्चित् तावदन्यो विचार्यताम् ॥७३॥

प्रमोद दास मित्र ने परिस्थिति को देखकर कहा । किसी और विषय पर ही विचार हो ।

शारीरकं ततः सूत्रं विशुद्धानन्द उक्तवान् ।
वेदस्येदं न किं सारो दयानन्द वदाद्य मे ॥७४॥

विशुद्धानन्द ने तब शारीरक सूत्र प्रस्तुत करके कहा। दयानन्द मुझे आज बताओ कि यह क्या वेद का सार नहीं है ?

वेदाः सर्वे न कंठस्था दृष्ट्वैव कथयिष्यते ।
महर्षिणैवमुक्ते तु विशुद्धानन्द इत्यवक् ॥७५॥

दयानन्द बोले। सब वेद तो कंठ नहीं। देखकर ही कहा जा सकेगा। तब विशुद्धानन्द बोल पड़े।

वेदा यदि न कंठस्थाः कथमत्रागतो भवान् ।
ततोऽपृच्छद् दयानन्दः किं त्वं जानासि सर्वतः ? ॥७६॥

जब वेद कंठस्थ नहीं थे तो आप यहां क्यों आये ? तब दयानन्द ने कहा, क्या आप सब जानते हैं ?

विशुद्धानन्द-मूकत्वे बाल-शास्त्री जजल्प सः ।
विजानीमो वयं सर्वमत्र कश्चिन्न संशयः ॥७७॥

विशुद्धानन्द चुप रहे तब बाल शास्त्री बोल पड़े। बेशक हम सब जानते हैं।

मानिन् भो तर्हि भाषस्व किमु धर्मस्य लक्षणम् ।
बालशास्त्र्यपठद् वाक्यमासीत्तत्तु न वेदतः ॥७८॥

स्वामी दयानन्द ने पूछा, हे अभिमानी, धर्म का लक्षण तो बताओ। बालशास्त्री ने एक वाक्य पढ़ा परन्तु वह वेद का नहीं था।

किमेतद् वेद वाक्यं भो दयानन्देन गर्जितम् ।
"धृतिःक्षमा" मनोर्वाचं शिवसहाय उक्तवान् ॥७९॥

दयानन्द गरज कर बोले 'क्या यह वेद वाक्य है ?' तब शिव सहाय ने मनु जी के 'धृतिः क्षमा' वाला श्लोक पढ़ा ।

"अधर्म लक्षणं ब्रूहि", नावोचत्कोपि पंडितः ।
ततो जीर्णानि पत्राणि दर्शयामास माधवः ॥८०॥

"अच्छा अधर्म के लक्षण करो" इस पर कोई पंडित न बोला। तब माधवाचार्य कुछ पुराने पत्रे लेकर आये ।

"पश्य भो 'प्रतिमा' शब्दो वेदेऽस्मिन् विद्यते ध्रुवम्" ।
नायं मूर्तेस्तुपर्याय इत्यदादुत्तरं मुनिः ॥८१॥

"देखो वेद में प्रतिमा शब्द है।" स्वामी दयानन्द ने उत्तर दिया, "यहां मूर्ति से आशय नहीं है।"

ब्राह्मणानीतिहासांश्च पुराणानि पठेन्नरः ।
भागवत प्रशंसात्रे-त्येवमाहस्म माधवः ॥८२॥

माधवाचार्य बोले "यहां लिखा है कि मनुष्य को ब्राह्मण, इतिहास, पुराण पढ़ने चाहिये। यहां भागवत इत्यादि से आशय है।"

जगाद तापसो विद्वान् "पुराणानि" विशेषणम् ।
कर्तव्या नैव विद्वद्भि र्भागवतादि कल्पना ॥८३॥

तपस्वी विद्वान् दयानन्द बोले, यहाँ "पुराण" विशेषण है। विद्वानों को चाहिये कि इस में भागवत आदि की कल्पना न करें।

पत्रमेकं समानीय स्थापयामास वामनः ।
"दशमे दिवसे" पाठः पुराणस्यात्र विद्यते ॥८४॥

अब वामनाचार्य एक पत्र लेकर आगे बढ़े, यहाँ लिखा है कि दसवें दिन पुराण पढ़े।

गृहीतवान् दयानन्दस्तत्पत्रं पठितुं यदा ।
घोष्यतेस्म तु तत्रस्थै र्दयानन्दपराजयः ॥८५॥

जब दयानन्द ने इस कागज को पढ़ने के लिये लिया। तभी वहां के बैठे लोग चिल्ला पड़े, दयानन्द हार गये।

शीघ्रं नगर-रथ्यासु महान् कोलाहलोऽभवत् ।
अकुर्वन् प्रस्तरक्षेपमृषौ च निन्दिता जनाः ॥८६॥

तभी काशी की गलियों में बड़ा शोर हुआ । और निन्दित लोग ऋषि पर पत्थर फेंकने लगे ।

अरक्षीद् रघुनाथश्च राजानमपि भर्त्सयन् ।
धूर्त्ततया दयानन्दं जनानां विघ्नकारिणाम् ॥८७॥

राजा को धमकाते हुये रघुनाथ प्रसाद ने विघ्नकारी लोगों की धूर्तता से ऋषि की रक्षा की ।

निष्पक्षैस्तु जनैर्दृष्टं सत्य-धर्म-विवेकिभिः ।
काशीस्थ-पंडिताः पक्षं साधयितुं न शेकिरे ॥८८॥

परन्तु निष्पक्ष विवेकी लोगों ने देख लिया कि काशी के पण्डित अपने पक्ष को सिद्ध न कर सके ।

गत्वा च सप्तकृत्वः सः काशीं विप्रान् समाह्वयत् ।
प्रमाणं मूर्तिपूजायाः प्रदर्शयत वेदतः ॥८९॥

ऋषि ने सात बार काशी जाकर पंडितों को ललकारा कि वेद से मूर्तिपूजा का प्रमाण दो ।

परन्तु साऽद्य पर्यन्तमास्ते काशी निरुत्तरा ।
काशीस्थ दुर्व्यवहारः सर्वदा स्मर्यते जनैः ॥९०॥

परन्तु आज तक काशी निरुत्तर है। लोगों को काशी वालों का दुर्व्यवहार सदा याद रहेगा।

इत्यार्योदयकाव्ये काशीविजयो नाम सप्तदशः सर्गः ।

अथाष्टादशः सर्गः

पराजितः काशिनिवासिनां मतौ,
तथा विजेता समदर्शिदृष्टिषु ।
युगान्तरस्यास्य विधायको महान्,
काशीवितथ्यत्वमपावृणोदृषिः ॥१॥

काशी के लोगों ने दयानन्द को पराजित समझा, निष्पक्ष दृष्टि वालों ने उसको विजयी समझा । परन्तु सच तो यह है । इस महान् और नये युग के विधायक ऋषि ने काशी की पोल खोल दी ।

वलादिवेदोक्ततमिस्रशक्तयः,
या गा ऋषीणां बहुधा तिरोऽदधुः ।
निहत्य ताः सूनुरयं बृहस्पते-
स्ता गा उदाजज्जनशान्तिकाम्यया ॥२॥

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त के तीसरे मंत्र में जिन वल आदि तामसी शक्तियों का उल्लेख है जिन्होंने ऋषियों की वाणी (विद्या) रूपी गायों को छिपा रक्खा था, बृहस्पति के

इस पुत्र दयानन्द ने लोगों की शान्ति की कामना से उन वाणियों को तामसी शक्तियों के बन्धन से छुड़ा दिया अर्थात् ऋषियों की वाणी का प्रचार किया।

वेदप्रमाणत्वमभूत् कृते युगे,
कलौ पुराणान्यलभन्त मान्यताम्।
एषा दयानन्दमहर्षिणा स्थिति-
र्विधाय शास्त्रार्थमपासिताऽखिला ॥३॥

सत्ययुग में वेद प्रमाण थे। कलियुग में पुराणों को मान्यता प्राप्त हुई ऐसी स्थिति को महर्षि दयानन्द ने शास्त्रार्थ करके दूर कर दिया।

विचार्य देशस्य परिस्थितिं यति-
र्विहाय काशीं विचचार सर्वतः।
सनातनीं वेदमयीं सुसंस्कृतिं,
प्रचारयामास स दिक्षु यत्नतः ॥४॥

देश की परिस्थिति का विचार करके यतिवर ने काशी छोड़ दी और सब तरफ भ्रमण करने लगे। उन्होंने यत्नपूर्वक सनातन वैदिक संस्कृति का सब दिशाओं में प्रचार किया।

परम्परा-स्वार्थ-निबद्धचेतसः,
परम्परा-दोषविसर्जनाक्षमाः ।
देशस्य विद्या-निधिगोप्तृपुंगवा,
न शेकिरे कर्तुमृषेः सहायताम् ॥५॥

परंपरा से जिनके चित्तों में स्वार्थ भरा था, जो परंपरा के दोषों को छोड़ने में असमर्थ थे देश के ऐसे विद्या के कोष के संरक्षक ऋषि की सहायता नहीं कर सके ।

परन्तु लोका उरुदृष्टिदर्शका,
निःस्वार्थतो वै ददृशुर्मुनेर्मतम् ।
दृष्ट्वा च कल्याणमृतस्य पालने,
स्वीचक्रिरे वेदमतस्य मान्यताम् ॥६॥

परन्तु जो लोग ऊंची दृष्टि से देखने वाले थे उन्होंने दयानन्द मुनि के मत को निःस्वार्थ भाव से देखा और यह देखकर कि सत्य के पालने में ही कल्याण है वैदिक धर्म की मान्यता स्वीकार करली ।

निभाल्य भानूर्ध्वगतिं खवर्त्मनि,
यथा भवत्येव दशा प्रभाद्विषाम् ॥
तथा विभिन्नेषु च सम्प्रदायिषु,
मुनिप्रभावोऽजनयत् प्रतिक्रियाम् ॥७॥

जैसे आकाश में सूर्य्य के ऊपर चढ़ने को देखकर प्रकाश के शत्रुओं की दशा होती है उसी प्रकार दयानन्द मुनि के प्रभाव को देखकर विभिन्न सम्प्रदाय वालों में उथल पुथल होने लगी।

मठाधिपैः प्रेरितशिष्यमण्डलै-
र्निजार्थगुप्त्यै प्रतिरुद्ध आत्मवित्।
बहुत्र शास्त्रार्थपराजिता अपि,
न ते कुनीतिं मुमुचुः कुबुद्धयः ॥८॥

मठाधीशों की प्रेरणा से उनके शिष्यों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये आत्म-ज्ञान के ज्ञाता दयानन्द का विरोध किया। बहुत से स्थानों पर शास्त्रार्थ में हार कर भी उन दुर्बुद्धियों ने अपनी कुचाल को नहीं छोड़ा।

गुरौ नरे भौतिकदेहधारिणि,
तृषाबुभुक्षादिगुणै युते नृणाम्।
परेशबुद्धिः कुरुते क्षतिद्वयं,
दम्भं गुरावन्धपरम्परां तथा ॥९॥

भौतिक शरीर को धारण करने वाले मनुष्य रुपी गुरु में जिसमें मनुष्यों के से भूख प्यास आदि सभी गुण पाये जाते हैं ईश्वर की बुद्धि करने से अर्थात् किसी मनुष्य को ईश्वर मानने

से दो हानियाँ होती हैं। (१) गुरु में दंभ आ जाता है। (२) अंधपरंपरा चल पड़ती है।

सत्यानृते वीक्ष्य दधौ प्रजापतिः,
श्रद्धां तु सत्ये विपरीतमन्यथा।
सुशिक्षया वंचिततुच्छदृष्टिभिः,
श्रद्धा कुपात्रेषु कृता कुवृत्तिषु ॥१०॥

यजुर्वेद अ० १९ मंत्र ७७ का वचन है कि प्रजापति ईश्वर ने सत्य और झूठ के रूपों को देखकर श्रद्धा को सत्य में और अश्रद्धा को असत्य में रक्खा। परन्तु शिक्षा से शून्य तुच्छदर्शी लोगों ने कुपात्र और कुवृत्ति लोगो में श्रद्धा करली।

भवेद् गुरुर्ज्ञानविवर्जितोऽधमः,
क्रोधी च लोभी विषयी कुसंस्कृतः।
स एव विष्णुः स शिवः प्रजापति-
र्ध्रुवं स मुक्तिं जगति प्रदास्यति ॥११॥

गुरु चाहे अज्ञानी, अधम, क्रोधी, लोभी, विषयी और कुसंस्कारी ही क्यों न हो वह विष्णु शिव या प्रजापति के स्थान में है। वह निश्चय ही जगत् को मुक्ति देगा।

नराश्च नार्यः समपूजयन् गुरून् ,
न ये बभूवुर्गुरवो यथार्थतः ।
भोगानुरक्ता विषयानुगामिनः
शिष्यानकुर्वन् निजतृप्तिसाधनम् ॥१२॥

नर नारियों ने ऐसे गुरुओं को पूजा जो वस्तुतः गुरु न थे। भोगी और विषयी गुरुओं ने शिष्यों को अपनी तृप्ति का साधन बना लिया।

अहं न भोक्ता, न रमे सुखेषु वा,
पिबन्ति खादन्ति ममेन्द्रियाणि वै ।
शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि किल स्वभावतः,
मयीदृशे भोगमलं न लिप्यते ॥१३॥

मैं भोगता नहीं। मैं सुखों में नहीं रमता। केवल मेरी इन्द्रियाँ खाती पीती हैं। मैं तो स्वभाव से शुद्ध और बुद्ध हूँ। ऐसे मुझ में भोगों का मैल नहीं चिपटता।

कुचक्रसिद्धान्तमिषेण भोगिनः,
नरांश्च नारीर्मुमुषुर्दिवानिशि ।
ऋषिर्दयानन्द उरुव्ययया नृणां,
दोषान् गुरूणां सहसा न्यदर्शयत् ॥१४॥

भोगी लोग ऐसे कुचक्र सिद्धान्तों के बहाने नर नारियों को रात दिन ठगते रहे। ऋषि दयानन्द ने लोगों को बचाने की इच्छा से गुरुओं के दोषों को भली भांति दिखलाया।

(उरुव्या—desire to protect देखो Apte)

श्राद्धं मृतानां पितृयज्ञनामतः,
गयादितीर्थेषु च पिण्डतर्पणे।
नक्षत्रपूजा, ग्रहवर्ग-सान्त्वनं,
ज्योतिर्विदाभासकृता प्रवंचना ॥१५॥

मुर्दों के श्राद्ध का नाम पितृ यज्ञ रख लिया। गया आदि तीर्थों में पिण्ड और तर्पण कराये। नक्षत्रों की पूजा, ग्रहों की शान्ति ऐसी ठगी झूठे ज्योतिषियों ने की।

वर्णाश्रमावस्थितिहीनमान्यता,
बाल्ये सुतानां च विवाहपद्धतिः।
बाल्याप्तवैधव्यरुजा हताः सुता,
अनेकदारत्वभुजश्च पूरुषाः ॥१६॥

वर्णाश्रम का मखौल, बालक बालिकाओं के विवाह की पद्धति, बालविधवापन के रोग से दुःखी लड़कियाँ और पुरुषों में बहुविवाह।

देवालयास्तुङ्गशिखाः सुभूषिताः,
कौशेयवासांसि जडासु मूर्त्तिषु ।
नग्ना अनाथाश्च बुभुक्षिता जनाः,
सहस्रशो गेहविहीनमानवाः ॥१७॥

ऊँचे ऊँचे भूषण युक्त मन्दिर, जड़ मूर्तियों के लिये रेशमी वस्त्र। अनाथ नंगे। आदमी भूखे, हजारों लोग बिना घर के।

सोपप्लवे व्योम्नि रवौ तथा विधौ
ताभ्यां जडाभ्यां करुणा-प्रदर्शनम् ।
पार्श्वस्थदीनस्य निभाल्य दुर्दशां,
घृणा च पारुष्यमुपेक्षणं भुवि ॥१८॥

आकाश में सूर्य्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहण पड़े तो जड़ और निर्जीव सूर्य्य चन्द्र के लिये तो करुणा का समुद्र उबल पड़े। परन्तु पास में किसी दीन की दुर्दशा को देखकर घृणा, कठोरता और उपेक्षा ही हो।

इमानि दृष्ट्वा दुरितानि शास्त्रवित् ,
शास्त्रार्थमार्गेण जनानबोधयत् ।
विहार-बङ्गस्थपुरेषु मुख्यतः,
प्रचारदृष्ट्या भ्रमणं चकार सः ॥१९॥

शास्त्र के जानने वाले दयानन्द ने इन बुराइयों को देखकर शास्त्रार्थ कर करके लोगों को जगाया। मुख्य करके विहार और बंगाल के देशों में प्रचारार्थ भ्रमण करते रहे।

पुरोहितेभ्यः पितरः सुता अदुः,
भागलपुरे दृष्टमिदं महर्षिणा।
बीभत्सदृश्यं तुतुदे मनःस्विनं
दिनं निराहारमयापयद् यतिः ॥२०॥

महर्षि ने भागलपुर में देखा कि पिता लोग अपनी पुत्रियों को पुरोहितों को दान में दे देते हैं। ऐसे भयानक दृश्य को देख कर मनस्वी दयानन्द को इतना दुःख हुआ कि यतिवर ने दिन भर खाना नहीं खाया।

स राजधानीं गतवान् यदा मुनिः
कालीकतानामपुरीं पुरस्कृताम्।
बङ्गस्थविद्वज्जनभूषणैर्मुदा
चक्रे महर्षेर्विधिवत् समादरः ॥२१॥

जब मुनि दयानन्द प्रसिद्ध कलकत्तापुरी में जो भारत की राजधानी थी पहुँचे तों वहाँ के विद्वानों ने उनका विधिपूर्वक आदर किया।

पुरेह राजा ननु राममोहनः,
प्रास्थापयद् ब्रह्मसमाजसंसदम् ।
याऽखण्डयद् विग्रहपूजनं तथा,
रुरोध बीभत्ससतीप्रणालिकाम् ॥२२॥

पहले यहीं राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज खोला था। उसमें मूर्ति पूजा का खण्डन होता था और सती की भयानक प्रथा को रोक दिया गया था।

तस्याः प्रमुख्यौ च टगोरकेशवौ,
जातौ दयानन्दमुनेः प्रशंसकौ ।
ताभ्यां तथा मित्रगणैस्तयोर्मुदा,
नियोजिता वेदविदः सुवक्तृताः ॥२३॥

ब्रह्मसमाज के दो प्रमुख पुरुषों देवेन्द्रनाथ टगोर और केशवचन्द्रसेन ने ऋषि की बड़ी प्रशंसा की और उन दोनों ने तथा उनके मित्रों ने वेदों के विद्वान् दयानन्द के व्याख्यानों का प्रबन्ध कर दिया।

अवासृजद् वेदसुधानदीं यदा
सारल्यसारस्ययुते स संस्कृते ।
सुसज्जिता नूतनयाऽऽङ्ग्लविद्यया
साश्चर्यमानन्दममंसताखिलाः ॥२४॥

जब स्वामी दयानन्द ने सरल और सरस संस्कृत में वेद रूपी अमृत की नदी बहाई तो नई अंगरेजी शिक्षा के पढ़े लोगों ने आश्चर्य से बड़ा आनन्द मनाया।

अशिक्षिता भारतवासिनोऽभवन्
पुरेति यूरोपमतानुगामिनः।
ते भारतीयस्य मुखान्न शुश्रुवुः
पूर्वं तथातर्कयुतं सुभाषितम् ॥२५॥

यूरोपवालों का अनुकरण करने वाले लोग समझते थे कि भारतवासी पर्वकाल में अशिक्षित थे। उन्होंने किसी भारतीय के मुख से पहले ऐसी तर्क युक्त वक्तृता कभी नहीं सुनी थी।

चकार शास्त्रार्थविमर्शमेकदा
प्रसिद्धताराचरणो महीसुरः।
हतप्रभस्तर्करवेः प्रभावतः
शशाक राद्धुं न स मूर्तिपूजनम् ॥२६॥

एक बार प्रसिद्ध पंडित ताराचरण ने शास्त्रार्थ किया। परन्तु तर्क के सूर्य्य की चमक से फीके पड़ गये और मूर्तिपूजा को सिद्ध न कर सके।

संप्रेरितः केशवचन्द्रधीमता
मुनिः समारब्ध गिरां स लौकिकीम् ।
न सक्षमो बोधयितुं जनान् बुधः
किंचिद्धि तेषां खलु भाषया विना ॥२७॥

बुद्धिमान केशव बाबू के कहने से स्वामी दयानन्द ने लौकिक-भाषा में बोलना आरंभ किया। कोई विद्वान् साधारण लोगों को उनकी भाषा के बिना कुछ समझा नहीं सकता।

"हिन्दी"ति भाषा विकृता हि संस्कृतात्
सर्वत्र देशे बहुशः प्रचाल्यते।
तामार्यभाषामिति गौरवान्विता—
मृषिः प्रचारस्य चकार साधनम् ॥२८॥

संस्कृत से ही निकली हुई हिन्दी भाषा भारत भर में प्रायः बोली जाती है। उस का ऋषि ने गौरवयुक्त 'आर्य्य भाषा' नाम रक्खा और उसी को प्रचार का साधन बनाया।

यदा दयानन्द उवाच संस्कृते,
निजार्थसिद्ध्यै बहुधा महीसुराः।
मृषा वदन्तिस्म, जनेषु चान्यथा
प्रादर्शयन् तस्य मुनेरभीप्सितम् ॥२९॥

जब दयानन्द संस्कृत में ही बोलते थे तो बहुत से ब्राह्मण स्वार्थ सिद्धि के लिये लोगों में ऋषि के मत का विपरीत ही बता दिया करते थे।

परन्तु भाषां खलु लौकिकीमिमाम् ।
स्वीकृत्य कार्य्यं सुगमं चकार सः ।
सम्यग् जनाँस्तस्य वचांस्यवागमन्,
वेदस्य वार्तां सुखदां च मोक्षदाम् ॥३०॥

परन्तु हिन्दी भाषा में बोलकर स्वामी दयानन्द ने कार्य को सुगम कर दिया। उनके वचनों ने लोगों पर सुख और मोक्ष को देने वाली वेद की बातों का अच्छी तरह बोध करा दिया।

प्राटीत् परिव्राट् स समस्त भारते,
प्रासारयच्चार्षमतं सनातनम् ।
प्रासादयद् ब्रह्मविदो विपश्चितः
प्रातापयत् क्षुद्रजनान् तमःप्रियान् ॥३१॥

परिव्राजक दयानन्द भारत भर में फिरा। और सनातन आर्य धर्म का प्रचार किया। ब्रह्म विद्या के पण्डितों को उससे प्रसन्नता हुई। और अन्धकार के प्रिय क्षुद्र जनों को अत्यन्त दुःख हुआ।

चिरस्थितानां तु रुजां निवारणे,
न वक्तृतामात्रमलं कदाचन।
अतो दयानन्द उरुक्रमोऽलिखत्,
सत्यार्थविद्योतकपुस्तकं महत् ॥३२॥

देर के रोग के निवारण का काम व्याख्यान मात्र से नहीं चलता। अतः उच्च आदर्श वाले दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश नामक बड़ी पुस्तक लिखी।

चैत्रेऽक्षिरामाङ्कमृगाङ्कवत्सरे,
मुम्बापुरे शुक्लदले च पक्षतौ।
पुनः प्रचाराय स वेद संस्कृतेः,
प्रास्थापयच्चार्यसमाज संस्थितिम् ॥३३॥

सं० १९३२ विक्रमी के चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को मुम्बई में उन्होंने वेद की संस्कृति को फिर फैलाने के लिये आर्य्य समाज की स्थापना की।

संस्थापनाऽस्यास्तु नवीनसंसद-
श्चकार देशे परिवर्त्तनं महत्।
चिरावरुद्धा सरणी सनातनी
मुनेः प्रयासात् पुनरप्यपावृता ॥३४॥

इस नई संस्था के खुलने से देश में बड़ा परिवर्तन हुआ। सनातन धर्म की नदी जो बहुत दिनों से रुकी पड़ी थी मुनिवर की कोशिश से फिर जारी हो गई।

यत्रापि कुत्रापि गतो महामुनिः
जनो न्यशाम्यन्मुदितो हि तद्वचः।
अपूर्वभक्तिं समदर्शयत्तथा
समाजमस्थापयदात्ममुक्तिदम् ॥३५॥

जहाँ कहीं मुनिवर गये लोगों ने उनके वचनों को प्रसन्न होकर सुना और अपूर्व भक्ति दिखाई। तथा आत्म-मुक्ति को देने वाले समाज की स्थापना की।

समुद्रामाङ्कशशाङ्क वत्सरे,
दिल्यां समारंभ उपस्थितो महान्।
विक्टोरियानाम वृटश्वरेश्वरी,
प्रघोषिता भारतचक्रवर्तिनी ॥३६॥

सं० १९३४ वि० में दिल्ली में बड़ा भारी दरबार हुआ। इंग्लेण्ड की रानी विक्टोरिया भारतवर्ष की सम्राज्ञी घोषित की गई।

यदाऽऽययमंस्तत्र समस्तभारतात्,
प्रसिद्धविद्वांस उतावनीभुजः।
ऋषिर्दयानन्द इयाय पत्तने,
न्यामंत्रयत् विश्वहितैषिणीं सभाम् ॥३७॥

जब वहाँ भारत भर से प्रसिद्ध विद्वान् और राजे लोग आये तो स्वामी दयानन्द भी पहुँचे और विश्वहितैषिणी एक सभा बुलाई।

तस्यां समाजग्मुरनेकधीधवाः
तत्त्वज्ञधर्मज्ञजगद्गतिज्ञकाः।
अलीगढात्सय्यद अह्मदः सुधी-
र्बङ्गालतः केशवचन्द्र आत्मवित् ॥३८॥

उस सभा में अनेक बुद्धिमान् तत्त्वज्ञ, धर्मज्ञ और जगत् के व्यवहार में कुशल लोग आये। अलीगढ़ के सय्यद अहमद और बंगाल के केशवचन्द्रसेन।

मुरादकाबादपुरात्समागमत्,
कुशाग्रबुद्धीन्द्रमणिर्महोदयः।
लाहौरतो रायनवीनचन्द्रयुत्,
मुम्बापुरीतो हरिचन्द्र उग्रधीः ॥३९॥

मुरादाबाद से बुद्धिमान् इन्द्रमणि, लाहौर से नवीनचन्द्र राय विद्वान् तथा बम्बई से हरिश्चन्द्र चिंतामणि ।

प्रादर्शयच्चान् प्रति देशवासिनां,
धर्मस्य मार्गात् प्रतिगामिनां दशाम् ।
मतान्यविद्याजनितानि खण्डयन्,
प्रास्तौत् तथा वेदमतावलम्बनम् ॥४०॥

स्वामी दयानन्द ने उनके सामने धर्म से विचलित देशवासियों की दुर्दशा को दिखाया । अविद्या से उत्पन्न मतों का खण्डन किया और वैदिक धर्म के अवलम्बन का प्रस्ताव किया ।

संप्रैरयद् भूमिपतीनृषिर्बुधः,
पत्रैश्च विज्ञापनसूचनादिभिः ।
भवत्प्रदेशप्रमुखैः सुपण्डितैः
शास्त्रार्थकामः सह संस्थितोऽस्म्यहम् ॥४१॥

बुद्धिमान् ऋषि ने पत्रों और विज्ञापनों द्वारा राजों को कहला भेजा कि मैं आपके देश के ऊँचे पण्डितों से शास्त्रार्थ करने की कामना रखता हूँ ।

निभाल्य राज्ञां भ्रमभीतिजां गतिं,
नृणायकानामनुदारतां तथा ।
तत्याज दिल्लीं त्वरितं महाव्रती
दिशि प्रतीच्यां गतवानतन्द्रितः ॥४२॥

स्वामी दयानन्द ने देखा कि राजे भ्रम में फँसे हैं और डरते हैं। और जन साधारण के नेता अनुदार हैं, अतः उन्होंने शीघ्र ही दिल्ली छोड़ दी। और पश्चिम दिशा को आलस्य से रहित होकर चल पड़े।

पंचाम्बुदेशे प्रविवेश यत्प्रभुः,
प्रसिद्धलोका अभवंस्तदानुगाः ।
पाषाणमूर्तेश्च विहाय पूजनं,
समैडताकारविमुक्तमीश्वरम् ॥४३॥

जब प्रभु दयानन्द पंजाब पहुँचे तो वहाँ के लोग उनके अनुयायी हो गये और मूर्ति पूजा छोड़ कर निराकार ईश्वर के उपासक हो गये।

एकविंशः सर्गः

यदाऽजमेरस्थजना व्यलोकयन्,
ऋषिं दयानन्दमसाध्यदुःस्थितौ ।
अरिष्टचिह्नानि निभाल्य तन्मुखे,
अगाधशोकाम्बुनिधौ ममज्जिरे ॥१॥

जब अजमेर के लोगों ने ऋषि दयानन्द को असाध्य रोग में फँसा देखा और उनके मुख से मरणासन्न होने के चिह्न देखे तो वे शोक के अगाध सागर में डूब गये ।

भिनायराजस्य निवासितो गृहे,
गराग्निरुग्णः स जगद्गुरुर्महान् ।
समग्रभक्त्याऽस्य व्यधात् चिकित्सनम्
चिकित्सको लक्ष्मणदासपुण्यभाक् ॥२॥

विष की अग्नि से रोगी वह महान् जगद्गुरु भिनाये राज की कोठी में ठहराया गया। पुण्यात्मा डाक्टर लक्ष्मणदास ने बड़ी भक्ति से इलाज किया ।

एकोनविंशः सर्गः

उपदेशमवाप्य मोक्षदं,
मुनिराजस्य मुखान्मनूद्भवाः।
भ्रमपाशविमुक्तमानसाः
श्रुतिसम्मानित मार्गमाययुः ॥१॥

मनुष्यों ने मुनिराज दयानन्द के मुख से मोक्ष-प्रद उपदेश को सुन कर तथा भ्रमजाल से मन को मुक्ति दिला कर वेद से सम्मानित मार्ग का अनुसरण किया।

ऋषिभिर्मुनिभिः पुराऽऽदिमैः,
विहिता वैदिकधर्मपद्धतिः।
शुभया च यया प्रभावितम्,
अभवत् सर्वजगत् सुसंस्कृतम् ॥२॥

पूर्व काल में आदि कालीन अग्नि वायु आदि ऋषि मुनियों ने वैदिक धर्म की पद्धति को स्थापित किया था। जिसके शुभ प्रभाव में आकर समस्त जगत् संस्कृति पूर्ण हो गया।

निगमान् हि यदा जनोऽत्यजद्,
अभवद् ह्रासमुखी जगद्गतिः ।
विविधा भ्रमपूर्णभावनाः
विविशुर्मानवजीवनस्थितिम् ॥३॥

परन्तु जब मनुष्य ने वेदों को त्याग दिया तो जगत् की गति ह्रास की ओर हो गई । और बहुत सी भ्रम-पूर्ण भावनायें मानव जीवन की स्थिति में प्रविष्ट हो गईं ।

अधुना पुनरप्यृषिर्महान्,
ततवान् वेदमतं महा-द्युतिः ।
कलिकालतमांसि नाशयन्,
कृतभासा समभासयज्जगत् ॥४॥

अब फिर महान् ज्योतिर्मय ऋषि दयानन्द ने वेद मत का प्रचार किया और कलियुग के अन्धकारों का नाश करके संसार को सत्युग के प्रकाश से चमका दिया ।

जनतार्थमपेक्ष्य वेदवित्,
कृतवानार्षपरम्पराश्रितः ।
अपि लौकिक भाषयाऽन्वितं,
विमलं भाष्यमृगादिवेदयोः ॥५॥

वेद के विद्वान् दयानन्द ने जनता के हित को दृष्टि में रख कर आर्य परम्परा के अनुसार हिन्दी भाषानुवाद सहित ऋग् और यजुः दो वेदों का शुद्ध भाष्य किया।

अनुसृत्य च यास्कपद्धतिं,
निरवोचत् स पदान्यशेषतः।
विमलं समदर्शयत्पुनः,
खलु वेदार्थमरूढिगर्हितम् ॥६॥

यास्काचार्य की पद्धति का अनुसरण करके उन्होंने सब पदों की निरुक्ति की और रूढ़ि के दोष से मुक्त शुद्ध वेदार्थ का फिर प्रदर्शन किया।

वचसां जननी जगन्नृणां,
श्रुतिराद्या महती सनातनी।
इतिहासमिता कथं भवेद् ?
अथ गाथा च कथं समाविशेत् ? ॥७॥

संसार के मनुष्यों की भाषाओं का जननी, आदि कालीन सनातनी और बड़ी वेदवाणी इतिहास से परिमित कैसे हो सकती है और उसमें मनुष्य की गाथायें कैसे हो सकती हैं ?

अतएव च रामकृष्णयोः,
अथवा नूतनभूभृतां कथाः ।
न हि वेद चतुष्टये मताः,
अनुमान्या न च वेदपारगैः ॥८॥

इसलिये वेद के विद्वान् यह नहीं मानते कि चारों वेदों में रामकृष्ण या नये राजाओं की कथायें हैं और न वे ऐसा अनुमान ही करते हैं।

अखिलानि पदानि छन्दसाम् ,
दधते यौगिकवृत्तिमंजसा ।
मतिमद्भिरनूद्यतां तथा,
प्रतिभायाद् यदि नाम कस्यचित् ॥९॥

वेदों में सब पद बिना अपवाद के यौगिक होते हैं। यदि कोई शब्द किसी का नाम प्रतीत हो तो बुद्धिमान् लोग उसको यौगिक अर्थ में ही लेते हैं।

नहि तत्तु विदेहजार्थकं,
यदि 'सीता'ऽस्तिपदं क्वचिच्छ्रुतौ ।
सहजानि कदापि नाभवन्
किल नामानि तु नाम धारिणाम् ॥१०॥

यदि वेद में कहीं 'सीता' शब्द आ जाय तो उसे जनक की पुत्री सीता के अर्थ में नहीं लेना चाहिये। जिन मनुष्यों का जो नाम रक्खा जाता है वह नाम उन्हीं के साथ उत्पन्न नहीं होता। नाम तो पहले से ही होता है।

अज एकरसो विभुः प्रभुः,
य उ पूर्णश्च महीयसां महान्।
अवतीर्य कुतः क्व गच्छताद् ?
अवतारस्य कथं समर्थता ? ॥११॥

अजन्मा, एक रस, सर्व व्यापक ईश्वर जो पूर्ण और बड़ों से भी बड़ा है अवतार लेकर कहाँ से और कहाँ आवे ? अवतार का सार्थक होना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

ननु शंकर-गौडपादयोः,
इतरेषां च तथा विचारणा।
नहि जीव-कयोरनन्यता,
निगमेन प्रतिपाद्यते क्वचित् ॥१२॥

श्री शंकराचार्य तथा श्री गौडपादाचार्य और इसी प्रकार के अन्य लोगों का सिद्धान्त कि जीव और ब्रह्म एक हैं वेदों से कहीं सिद्ध नहीं होता। (जीवकयोः—कः ब्रह्म, जीवकयोः जीव ब्रह्मणोः)।

सयुजौ सुहृदौ चितावपि,
नहि भेदस्तु तयोरुपेक्ष्यताम् ।
फलमत्ति लघुः स्वकर्मणां,
परिपात्येव जगन् महान् परः ॥१३॥

जीव और ब्रह्म दोनों सयुज, सखा और चेतन हैं। फिर भी इन दोनों के भेद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इनमें से जो छोटा है अर्थात् जीव वह अपने कर्मों का फल चखता है। और बड़ा ईश्वर जगत् को पालता है।

गुणकर्मविभागशः श्रुतौ,
गणना वर्णचतुष्टये मता ।
मनुजस्य तु वर्णनिश्चितिः
नहि वंशेन तथा न जन्मना ॥१४॥

वेद में चार वर्णों की गणना गुण कर्म के विभाग से मानी गई है। मनुष्य के वर्ण का निश्चय वंश या जन्म से नहीं होता।

शतधा च सहस्रधाकृता,
जनता भारतवासिनां नृणाम् ।
व्रजते सततं पराभवं,
बत पौराणिकविभ्रमैर्हता ॥१५॥

भारतवर्ष के लोग सैकड़ों और सहस्रों भागों में बट कर लगातार ह्रास को प्राप्त हो रहे हैं और पौराणिक भ्रमजाल उनको मार-डाल रहा है।

मुखवन् मनुजेषु का नरः ?
कतमो वा भुज इत्युदीरितः।
इति सुस्थसमाजसंस्थितिः,
ऋचि वेदे प्रतिपादिता शुचिः ॥१६॥

मनुष्य जाति में कौन मनुष्य मुख के समान हैं और किसको भुजा कह कर पुकारा जाता है ? ऋग्वेद में इसी प्रकार के पवित्र और सुस्थ समाज-निर्माण का उल्लेख है।

इति वेदवचोभिरीदृशैः,
ऋषिणा तत्त्वमदृश्यताऽखिलम्।
तमसाऽऽवृतसुप्तितो यथा,
मतिमन्तः सहसा जजागरुः ॥१७॥

इस प्रकार ऐसे-ऐसे वेद वचनों द्वारा ऋषि दयानन्द ने समस्त तत्त्व देख लिया। बुद्धिमान् लोग ऐसे जाग पड़े मानों अन्धकार से ढके हुये स्वप्न में से।

"किमु सत्यमिदं पुरातनी,
अभवच्छ्रेष्ठतया नु संस्कृतिः ?
इयमेव हताशभारतं,
किमु गर्त्तात् पुनरुद्धरिष्यति" ? ॥१८॥

वे कहने लगे कि "क्या यह सच है कि पुरानी संस्कृति सब से श्रेष्ठ थी और क्या यह ठीक है कि वही संस्कृति हताश भारत को फिर गड्ढे से निकाल सकेगी।"

इतिवीक्ष्य समाजचिन्तकैः,
निरमाय्यार्यसमाज संस्थितिः।
अयतन्त च ते परिश्रमाद्,
अपकर्त्तुं व्यवरोधिनीः प्रथाः ॥१९॥

समाज के चिन्तकों ने ऐसा देख कर आर्य्य समाज नामी संस्था स्थापित की और वे परिश्रम करके विरोधिनी प्रथाओं को दूर करने का यत्न करने लगे।

यश आर्य्य-समाज सद्गुरोः,
अमरीकाविनिवासिभिः श्रुतम्।
भवितुं च मतानुगामिनः,
अलिखन् नम्रतया दलानि ते ॥२०॥

आर्य्य समाज के सद्गुरु (दयानन्द स्वामी) के यश को अमरीका वालों ने सुना। और उनके मत पर चलने के लिये पत्र लिखे।

"भगवन् परदेशिनो वयं,
श्रुतिहीन-प्रथया विधूनिताः।
अधुना तु तवोपदेशतः,
सुभगा आत्मसुधापिपासवः" ॥२१॥

"भगवन् हम परदेशी हैं और वेद-हीन प्रथाओं से नष्ट हो चुके हैं, अब आपके उपदेशों से हमारा भाग्य जागा है और हम आत्म-सुधा के प्यासे हो गये हैं।"

अलकाट महोदयो बुधः,
विदुषी श्री बल-वट्सकी तथा।
अमरीकन-थौसफीसदौ,
मुनिमाजग्मतुरात्मतृप्तये ॥२२॥

बुद्धिमान् कर्नल अलकाट और विदुषी मैडम ब्लैवट्सकी, अमरीका की थौसफीकल सोसायटी के दो सदस्य आत्मतृप्ति के लिये ऋषि दयानन्द से मिलने आये।

गुरुवर्यमुखान्निशम्य तौ,
मथितां वेदसुधाम्बुधेः श्रमात् ।
उपदेशसुधामृतंभरां,
सफलं चक्रतुरात्मजीवनम् ॥२३॥

उन दोनों ने गुरुवर के मुख से श्रमपूर्वक वेद सुधा के समुद्र में से मथ कर निकाली हुई ऋतंभरा उपदेश सुधा को सुनकर अपना जीवन सफल किया ।

जडवाद-नवीन-शिक्षया,
विषयाऽऽसक्ति-विषाक्तया नृणाम् ।
परिदूषितचित्तवृत्तिजा,
मृगतृष्णास्तुतुषुर्न भोगिनाम् ॥२४॥

विषय भोग रूपी विष से मिली हुई नई जड़वाद की शिक्षा से दूषित चित्त की वृत्ति से उत्पन्न भोगी लोगों की मृगतृष्णायें सन्तुष्ट न हो सकीं ।

नव-भौतिक-शास्त्रिमण्डली,
सततं धर्म-निरादर-प्रिया ।
जनता-विषयप्रसाधिका,
विचकाराद्य जगन्मनोगतिम् ॥२५॥

नोट—प्रसाधिका उच्च घराने की महिलाओं को शृङ्गार कराने वाली नायन होती है जो उनको पतियों के विलास का साधन बनाती है।

भौतिकशास्त्र जानने वालों की नई मण्डली ने जिसको धर्म का निरन्तर निरादर करने की टेव पड़ गई है और जो जनता देवी के विषय-भोग सम्बन्धी सामग्री के जुटाने में प्रसाधिका का काम करती है, संसार की मनोवृति को विकृत कर दिया।

उपदिश्य परेशभावनां,
समवस्थाप्य च गौरवं श्रुतेः।
प्रतिपाद्य नृचित्स्वरूपतां,
गुरुणा नास्तिकता निराकृता ॥२६॥

ईश्वर की भावना का उपदेश देकर, वेद के गौरव को स्थापित करके, और मनुष्य चेतन-स्वरूप है ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ऋषि दयानन्द ने नास्तिकता का निराकरण कर दिया।

वितता जवतः समन्ततो,
नगरेष्वार्यसमाजसंततिः।
मतिमज्जनताऽपि शिक्षिता,
अविशच्चार्यसमाजसंसदम् ॥२७॥

सब जगह नगरों में आर्य्य समाजों का सिलसिला बड़े वेग से फैल गया और बुद्धिमान शिक्षित जनता आर्य्य समाज में शामिल हो गई।

अधुनार्य्यकुलानुशासितं,
पृथिवीखण्डमचिन्तयन् मुनिः ।
अवगत्य दशां महीभृताम् ,
उपचारे स्वमनो दधौ तथा ॥२८॥

अब स्वामी दयानन्द ने भारतभूमि के उस भाग की चिन्ता आरंभ की जिस पर अभी प्राचीन आर्य्य घराने राज करते थे। और राजाओं की दशा को मालूम करके अपने मन को उन के उपचार में लगाया।

परदेशजनैर्जिताः पुरा,
बहवो राजकुलप्रजा भटाः ।
मुमुचुर्निजभूमिमुर्वरां,
मरुखण्डे व्यदधुर्नवाः पुरः ॥२९॥

राजकुलों में पैदा हुये बहुत से वीरों ने विदेशियों से परास्त होने पर पहले जमाने में अपनी उपजाऊ भूमि को छोड़ कर रेगिस्तान में नये नगर बसा लिये थे।

क्रमशः सिकताऽर्णवेऽखिले,
नवराज्यानि तदा पृथक् पृथक् ।
गगने निशि तारका इव,
समजायन्त लघून्यनेकशः ॥३०॥

होते होते समस्त रेगिस्तान रूपी समुद्र में बहुत छोटे छोटे नये राज्य स्थापित हो गये जैसे रात्रि में आकाश में तारे निकलते हैं।

विषमत्वविशिष्ट-भूस्थितिः,
सिकताऽऽकीर्णतला वसुंधरा ।
धनधान्यजलप्रयामता,
सुगसन्मार्गविहीनताऽभितः ॥३१॥

भूमि विशेषरूप से विषम थी। पृथिवी के तल पर रेत ही रेत था। धन धान्य और जल की कमी थी। चारों ओर आने जाने के अच्छे रास्ते न थे।

अचला अद्रिमाः क्षुपाऽऽवृताः,
अपि खल्वाट-वितप्तमस्तकाः ।
समयोचितवृष्टिवंचिताः,
सरितः क्षुद्रजला अनिश्चिताः ॥३२॥

पहाड़ तो थे परन्तु उन पर बर्फ नहीं थी। और छोटी छोटी झाड़ियां थीं। या गंजों के सिरों के समान उनकी चोटियाँ गर्म रहती थी। वृष्टि समय पर न होने से नदियों में जल क्षुद्र था और निश्चित विश्वास के योग्य भी न थीं।

रविचन्द्रकुलोद्भवैर्नृपैः,
यशसां शिष्टलवैः सहागतैः।
अधिगत्य लघून् भुवो लवान्,
इह दुर्गाणि कृतानि रक्षितैः ॥३३॥

सूर्य और चन्द्रवंश में उत्पन्न हुये राजों ने जो अपने यश के बचे कुचे टुकड़ों को साथ ले आये थे और यहाँ सुरक्षित थे इस देश में भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों पर कब्जा करके किले बना लिये।

कलहेन मिथो वियोजिताः,
विषयाऽऽसक्तिपरा अमी नृपाः।
अवितुं किल संस्कृतिं पुरां,
अवनत्या अवटान्न येतिरे ॥३४॥

यह राजे परस्पर की कलह के कारण असंगठित थे और विषयों में फंसे हुये थे, इसलिये पुराने जमाने में इन्होंने अपनी संस्कृति को अवनति के गढ़े से बचाने का यत्न नहीं किया।

विगताः शतशः समा यदा,
मरुदेशस्यनराधिपालकैः ।
अहिमांशुकुलप्रसूतिभिः,
अवरुद्धा मुगलप्रतिक्रिया ॥३५॥

कुछ शताब्दियाँ गुजरीं कि इस खण्ड के सूर्यवंशी राजाओं ने मुगलों की प्रतिक्रिया को रोका ।

अत एव कुलेषु भूभुजां,
परतापस्य सिसोदिया कुलम् ।
गणयन्ति जनाः शिरोमणिम्,
उत तत्रायमनाथपालकम् ॥३६॥

इसीलिये लोग राजाओं के कुलों में परताप (शत्रुओं को तपाने वाले) अर्थात् राणा प्रताप के सिसोदिया वंश को शिरोमणि समझते हैं और उस वंश के राजों को अनाथ-पालक कहते हैं ।

हरिदश्व-कुलस्यभूषणं,
नरपः सज्जनसिंह-नाम भाक्,
उपदेशसुखं यदा मुनेः,
स्वजनान् प्रापयितुं युयोज सः ॥३७॥

सततं परमार्थचिन्तकः,
उररीकृत्य निमंत्रणं तदा ।
उदयस्य पुरं समाययौ,
नव-रामाङ्कशशाङ्कवत्सरे ॥३८॥

सूर्यकुल के भूषण बुद्धिमान् राणा सज्जनसिंह ने जब ऐसी योजना बनाई कि मुनि दयानन्द के उपदेशों का सुख मेरी प्रजा को भी प्राप्त हो।

तो परमार्थ-चिन्तन में सदा रत रहने वाले ऋषि ने उनका निमंत्रण मान लिया और सम्वत १९३९ वि० में उदयपुर में पधारे ।

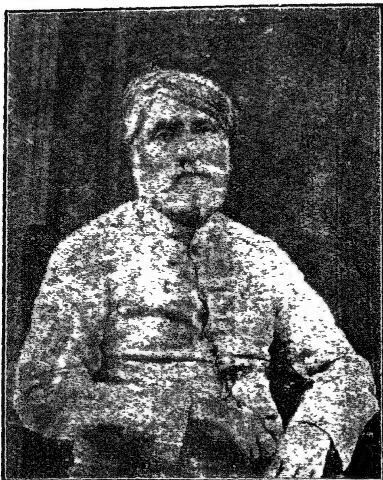
ऋषिराजसमागमाशया,
हृदयं राजपुरस्य वासिनाम् ।
कलिवत् कमलस्य रश्मिणा,
विचकाशे, मुमुदे, समैधत ॥३९॥

ऋषिराज के दर्शन की आशा ने राजधानी के लोगों के हृदयों को ऐसा विकसित, प्रसन्न और सम्वर्द्धित कर दिया जैसे कमल की कली को सूर्य की किरण ।

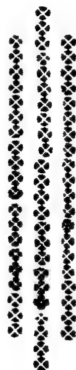


परोपकारिणी सभा के प्रधान
महाराणा सज्जनसिंह
उदयपुराधीश

ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त



राजाधिराज श्रीमान् नाहरसिंह जी
शाहपुराधीश





राजाधिराज श्रीमान् उम्मेदसिंह जी
शाहपुराधीश

इतिहासमपेक्ष्य सोऽद्भुतं,
किल चित्तौडमहीभृतां मुनिः ।
प्रतिमानमिवव्यलोकयत् ,
क्षितिपं क्षात्रगुणस्य सज्जनम् ॥४०॥

चित्तौड़ के राजाओं के अद्भुत इतिहास को याद करके ऋषि दयानन्द ने राणा सज्जनसिंह को क्षात्र गुणों की प्रतीक के रूप में देखा ।

ऋषिराजमपि प्रजायुतः,
समलोकिष्ट सकौतुकं नृपः ।
अनुभूय सुखं ह्यलौकिकं,
स दयानन्दवचांस्युपाददौ ॥४१॥

राजा ने भी अपनी प्रजा के साथ स्वामी दयानन्द को कौतुक के साथ देखा और अलौकिक सुख का अनुभव करके ऋषि के वचनों को स्वीकार कर लिया ।

उपदेश ऋषेः सुधासमः,
मरुचेतांसि, विधूयशुष्कताम् ।
मरुदेशनृणां, समोदिदत् ,
कृतवान् शाद्वलमंडितानि च ॥४२॥

ऋषि के अमृतमय उपदेश ने राजपूताने के रेगिस्तान के लोगों के बलुये चित्तों की खुश्की मिटाकर उनको ताजा और हरा भरा बना दिया।

वचसा, तपसा च तेजसा,
शिवसङ्कल्पयुतेन चेतसा।
ऋषिणा जनता वशीकृता
पथि धर्मस्य निवेशिता तया ॥४३॥

वाणी, तप, तेज तथा शुभ कल्पना करने वाले चित्त के द्वारा ऋषि ने जनता को वश में कर लिया और उनको धर्म मार्ग पर चलाने लगे।

विनयेन महीप एकदा,
सुखमासीनमवेद्य संसदि।
श्रुति-मर्म-विदं महामुनिं,
स दयानन्दमिदं न्यवेदयत् ॥४४॥

एक दिन जब वेद के मर्म को जानने वाले मुनिवर दयानन्द सुखपूर्वक सभा में बैठे हुये थे तब राजा ने विनयपूर्वक निवेदन किया।

"भगवन्नुदियाय निश्चयं,
सुकृतं पूर्वकृतं मया शुभम् ।
भवदंघ्रिरजांसि सेवितुम्,
अलभे यस्य फलं सुखप्रदम् ॥४५॥

महाराज, निश्चयरूप से मेरे किसी पहले किये हुये पुण्य का उदय हुआ है कि मुझे श्री चरणों के रज को सेवने का सुख-प्रद फल मिला है।

"क्षणिकं न भवेदिदं सुखम्,
इति शंका मम दूयते मनः ।
मठ एक इहाऽस्ति रिक्थभाक्,
प्रभुरेवास्तु मठाधिपालकः ॥४६॥

यह शंका मुझे दुःख दे रही है कि कहीं यह सुख छिन न जाय। मेरे राज में एक मठ (गद्दी) है जिसमें सम्पत्ति लगी हुई है। मैं चाहता हूँ कि आप ही उसके अध्यक्ष हो जायं।

"धनमस्य मठस्य यद्भवेत्,
अखिलं यातु मत-प्रचारणे ।
भगवानपि कर्तुमर्हति,
प्रमुखं केन्द्रमिदं स्वकर्मणाम् ॥४७॥

इस मठ का जो धन आवे उसे आप सब का सब धर्म के प्रचार में लगावें और आप इसी स्थान को अपने कार्य्यों का मुख्य केन्द्र बनालें।

"भगवच्चरणाऽभिवन्दनात्
ममजीवः सफलीभविष्यति।
द्विविधं भविता शुभं ततः,
मम लाभो भवतां दयाऽर्द्रता" ॥४८॥

आप के चरणों को नमस्कार करके मेरा जीवन सफल हो जायगा। इससे दो शुभ होंगे। एक तो मेरा लाभ और आप की दया का प्रकाश।

अथ चेत् प्रतिमाऽर्चनप्रथा,
विषयेऽस्मिन् भवतां विरोधिनी।
क्रियतामितरेण केनचित्,
प्रतिमा-पूजन-कर्म पूर्ववत् ॥४९॥

यदि आप कहें कि मूर्तिपूजा करने से मुझे विरोध है तो पहले के समान मूर्तिपूजा कोई और कर लिया करेगा।

"प्रसभं प्रतिमाऽऽत्रखण्डनं,
त्यजनीयं कृपया कृपालुना ।
अधिको यदि लाभ उद्भवेत्,
लघुहानं सहते न को जनः ?" ॥५०॥

कृपा करके जोरदार मूर्तिखण्डन छोड़ देवें। अधिक लाभ होने पर छोटी हानि को कौन नहीं सह लेता ?

क्षितिपस्य निशम्य भाषितं,
व्यहसल्लोक-मनःप्रवृत्तिवित् ।
"न विदन्ति धनाभिमानिनः,
गहनां धर्मगतिं ह्यतीन्द्रियाम् ॥५१॥"

राजा की बात को सुनकर लोगों के मनों की प्रवृत्तियों को समझने वाले दयानन्द हँसे और कहा, "धनी लोग धर्म की अगोचर और गंभीर गति को नहीं समझते ।

"क्व तवास्ति मठश्च तद्धनं,
क्व जगद्भर्तुरसीमवैभवम् ।
कुचिता क्व तवाल्पमेदिनी,
क्व विभोर्व्योमसमं महज्जगत् ॥५२॥

तेरा मठ और उसका धन कहाँ ? और संसार के स्वामी ईश्वर का असीम वैभव कहाँ ? कहां तेरी थोड़ी सी भूमि ? और कहाँ प्रभु का आकाश के समान अनन्त जगत् ?

"यदि चेन्मयि ते कुदृष्टयः,
रिणचान्याशु भुवं तवाधिप ।
जगदीशवशात् कथं बहिः,
भवितुं, चिंतय, शक्यते मया ॥५३॥

यदि मेरे ऊपर तेरी कुदृष्टि हो जाय तो शीघ्र ही मैं तेरी भूमि से कूद कर निकल जाऊँ, परन्तु सोचो तो कि ईश्वर के आधिपत्य से मैं कैसे बाहर हो सकता हूँ ।

असुदं वसुदं जगद्धरम् ,
अथवा त्वां लघुचेतसं नृपम् ।
वद, बुद्धिद, कं प्रसादये,
कतमस्याऽस्ति मतिर्गरीयसी ॥५४॥

हे मुझ को सलाह देने वाले, बता तो सही कि मैं किसको प्रसन्न करूँ ? प्राण देने वाले, धन देने वाले और संसार को धारण करने वाले ईश्वर को या तुझ तंग दिल को ? किसका आदेश बड़ा है ?

"जड एव जडं निनंस्यति,
मतिमन्तो न जडानुपासते ।
कुरुते य उ मूर्तिपूजनं,
नहि पापात्स कदापि मुच्यते ॥५५॥

जड़ को जड़ ही नमस्कार करना चाहता है। बुद्धिमान लोग जड़ों की पूजा नहीं करते। जो मूर्तिपूजा करता है वह पाप से कभी नहीं छूटता।

जड-पूजनपंक-मज्जितान्,
अवलोक्यार्यजनानजाविवत् ।
शकली-क्रियते, सखे, मम,
शतधा वाऽपि सहस्रधा मनः ॥५६॥

यह देखकर कि आर्य्य लोग बकरी और भेड़ के समान मूर्ति-पूजा के कीचड़ में फँस रहे हैं मेरे जी के सैकड़ों और हज़ारों टुकड़े हुये जाते हैं।

अयसो निगडैरसज्जनान्,
परिबध्नन्ति गजांस्तथा जनाः ।
यतसे तु हिरण्य बन्धनैः,
बत बन्धुं त्वमु मादृशान् नरान् ॥५७॥

लोग दुष्टों या हाथियों को लोहे की जंजीर से बाँधते हैं। तू हम जैसों को सोने के पाशों से बाँधता है।

मुनिराजवचःप्रभावितः,
नतभालस्त्रपयाऽवनीपतिः।
अनिरुक्त पदान्युवाच सः,
"कृपया मर्षय मेऽत्र धृष्टताम्" ॥५८॥

मुनिराज के वचनों से प्रभावित होकर राजा ने लज्जा से सिर नीचा कर लिया। और लड़खड़ाती हुई बोली में कुछ ऐसा कहा, "कृपा करके मुझे क्षमा कर दीजिये।"

बहु कालमयापयन्मुनिः,
सह राज्ञा शुभयोजनारतः।
निममे च परोपकारिणीं,
प्रथितां तां हितकारिणीं सभाम् ॥५९॥

स्वामी दयानन्द बहुत दिनों तक राजा के साथ ठहर कर अच्छी योजनायें बनाते रहे। और परोपकारिणी नाम की एक सभा खोली।

मनुना प्रतिपादितां स्मृतिं,
गदितं भीष्म-महात्मना नयम् ।
नियमान् निगमैः प्रचोदितान् ,
क्षितिपालः स ऋषेरधीतवान् ॥६०॥

राजा ने ऋषि से मनुस्मृति, भीष्म की नीति, और वेदों के नियम पढ़े ।

इत्यार्य्योदयकाव्य उदयपुरगमनं नामैकोनविंशः सर्गः ।

विंशः सर्गः

उदयपुरमहीपं भासयन् स्वात्मभासा,
जनपदजनतायाः मोह पंकं विधून्वन् ।
श्रुतिवचनसुधापो वर्षयन् सप्तमासान्,
ऋषिगणमनुगन्ता राजधानीममुञ्चत् ॥१॥

उदयपुर के राजा को अपने आत्म-प्रकाश से प्रकाशित करके और नगर के लोगों के मोह रूपी कीचड़ को दूर करके सात मास तक वेद वचन रूपी अमृत के जल को बरसा कर ऋषियों के अनुगामी दयानन्द ने उदयपुर राज को छोड़ दिया।

उदयपुरसमीपे संयुता तेन सार्धं,
लसति वसतिरेका पावनी शाहपूः पूः ।
रविकुलतरुशाखा रश्मिवत् सप्तरश्मेः,
जनपदहितचिन्तां राजते चिन्तयन्ती ॥२॥

उदयपुर के समीप उसी से मिली हुई शाहपुरा नाम की एक पवित्र नगरी है। यहाँ सात किरणों वाले (सूर्य्य) की एक

किरण के समान सूर्य्यवंश के वृत्त की एक शाखा राज करती है जो नगर के हित की चिन्ता में मग्न रहती है।

न न हरति नराधिं 'नाहरो' नाम राजा,
निजजनपदलोकान् त्रातुमाध्यात्मतापात् ।
भव-जन-भव-ताप-त्रातृ-पीयूषपाणिम् ,
ऋषिमतुलितभक्त्याऽऽमन्त्रयामास राज्ये ॥३॥

नरों (मनुष्यों) की आधि अर्थात् व्याधि को जो हरता है वह 'हर' है। जो न हरे वह 'अहर'। जो 'अहर' न हो अर्थात् जो अवश्य ही व्याधि को हरे वह हुआ 'नाहर'। शाहपुर के राजा का नाम नाहरसिंह इसी लिये था कि वह अपनी प्रजा के दुःखों को अवश्य ही हरने का यत्न करते थे। (हरतीति हरः, न हरः अहरः, न अहरः नाहरः) उन्होंने अपने नगर के लोगों को अध्यात्म ताप से बचाने के लिये अपूर्व भक्ति से अपने राज्य में बुलाया। वह ऋषि कैसे थे ? भव (संसार) के जनों के भव ताप अर्थात् संसार रूपी तापों के त्राता अर्थात् रक्षक थे और उनके हाथों में अमृत था।

श्रुतिरससरिताऽद्भिः सिंचयन् चारुभूमिम् ,
मनुमुनिनयजातं शिक्षयन् राज्यपालम् ।
नृपतनुजमुमेदं पाठयन् धर्ममूलम् ,
"शहपुर"मधितष्ठौ सार्द्धमासद्वयं सः ॥४॥

वेदों के रस की नदी के जलों से सुन्दर भूमि को सींचते हुये, राजा को मनुस्मृति सिखाते हुये और राजकुमार 'उमेदसिंह' को धर्म की मूल बातें पढ़ाते हुये ऋषि दयानन्द शाहपुरा में ढाई मास ठहरे।

जुधपुर इति राज्यं मारवाडप्रदेशे,
मरुभुवि विजलायां वर्तते प्रत्नमेकम्।
अकबरनृपकाले मुस्लिम स्नेह सिक्ताम्,
अलभत यदनिष्टां मानसिंह-प्रसिद्धिम् ॥५॥

मारवाड प्रदेश में जल-रहित रेतीली भूमि में जोधपुर नाम का एक पुराना राज्य है। जिसने अकबर बादशाह के जमाने में मुसलमानों के स्नेह से सींची हुई मानसिंह की अनिष्ट कीर्ति प्राप्त की थी। (मानसिंह ने अकबर से मिलकर अपनी बहन जोधाबाई का विवाह शाहजादे से कर दिया था और इससे उसकी बड़ी बदनामी हुई थी। यह जोधपुर का ही राजा था)।

विधिरचितविधानं मानवैः खल्वबोध्यम्,
अघटत बत तस्मिन् दुःस्थिति व्याप्तराज्ये।
यदृषिवरदयानन्दायुषः कर्तुमन्तं,
जनहित-रिपुवर्गाः येतिरे केऽपि धूर्ताः ॥६॥

उस अव्यवस्थित राज्य में ईश्वर ने कुछ ऐसी घटना रची जो मनुष्यों की समझ से बाहर है। जनहित के शत्रु कुछ धूर्तों ने ऋषि दयानन्द के जीवन को समाप्त करने के लिये यत्न किया।

यश इति सुपदाद्यं शोभनं नाम धृत्वा,
जुधपुरनरपालः कोऽपि जस्वन्तसिंहः।
जनसुखमवहेल्य स्वेन्द्रियग्रामतृप्तिम्,
असुलभनरयोने, मुख्यहेतुं स मेने ॥७॥

सुन्दर पद 'यश' से आरंभ हुये जसवन्तसिंह नाम का जोधपुर का एक राजा था। यह प्रजा के सुख अथवा प्रजा की अच्छी इन्द्रियों की अवहेलना करके अपनी इन्द्रियों की तृप्ति में ही कठिन मनुष्य योनि का प्रयोजन मानता था। अर्थात् विषयी था।

नृपकुलसुभगौ द्वौ तेजसिंह-प्रतापौ,
परहितरतसाधोः शुभ्रकीर्ति निशम्य।
निजनगरनराणां लाभमुद्दिश्य धीरा-
वथ विनियुयुजाते स्वामिनः स्वागताय ॥८॥

राजा के ही कुल के दो सज्जन थे राउ राजा तेजसिंह और कर्नल प्रतापसिंह। उन्होंने दूसरों के हित में रहने वाले साधु दयानन्द की उज्ज्वल कीर्ति को सुना और उन धीर पुरुषों ने अपने

नगर के लोगों के लाभार्थ स्वामी जी को बुलाने की योजना बनाई ।

श्रुतमिदमतिसन्देहात्मना नाहरेण,
विनययुतकरेणागादि राज्ञा महात्मा ।
नहि शमिति समीक्षे स्वामिनस्तत्रयाने,
मरुखिलजजना वै स्नेहशून्या भवन्ति ॥९॥

राजाधिराज नाहरसिंह ने इस बात को सन्देह के भाव से सुना और विनयपूर्वक स्वामी जी से कहा, "महाराज, मुझे आपके जोधपुर जाने में कल्याण नहीं दीखता। मरुदेश की अनुपजाऊ भूमि में पैदा हुये लोगों में स्नेह नहीं होता। (रेत में जल कहाँ ?)"।

यदगमदजमेरं वेदधर्मानुरागी,
गदितमखिलमित्रै "र्मागमत्तत्र देवः ।
अघपिहितमनोभिर्गृह्यते नैव शिक्षा,
न च विषयरतेषु स्याज्जनानां प्रतीतिः" ॥१०॥

जब वेद धर्म में अनुराग रखने वाले दयानन्द अजमेर गये तो वहाँ भी सब मित्रों ने यही समझाया कि "महाराज ! वहाँ न जाइये। जिनके मनों पर पाप का परदा पड़ा है वे शिक्षा ग्रहण नहीं करते। सज्जन लोग विषयी लोगों पर विश्वास नहीं रखते"।

स्वहितविरतसाधुर्मृत्युभीत्याऽपि मुक्तः,
गणयति न समस्यामिङ्गितां प्रार्थयद्भिः।
उपचरितुमघौघं क्षत्रियाणां कुलानां
जुधपुरगमनार्थं क्षिप्रमेवोद्यशाम ॥११॥

स्वामी जी स्वार्थ से विरक्त थे और मृत्यु के भय से भी मुक्त थे। इस लिये उन्होंने प्रार्थना करने वालों के इशारों से प्रकट की हुई समस्या को नहीं गिना और क्षत्रियों के कुलों के पाप-समूहों का उपचार करने के लिये शीघ्र ही जोधपुर आने को उद्यत हो गये।

नृपपरिजनयोगेनेरितेनर्षिभक्तैः,
समुचितपरिबन्धस्तन्निवासाय चक्रे।
ऋषिवचनपयोदैर्धर्मधारावहद्भिः,
जनहृदयमरुत्वं तृप्तिपूर्त्या निरस्तम् ॥१२॥

ऋषि के भक्तों से प्रेरित राजकर्मचारियों की सहायता से उनके निवास का उचित प्रबन्ध किया गया। धर्म की धारा बहाने वाले ऋषि के वचन रूपी बादलों ने लोगों के हृदयों के रेतीले पन को तृप्ति द्वारा दूर कर दिया। अर्थात् राज्य के लोग धर्म से प्रभावित होने लगे।

नृपतिरपि कदाचित् कर्हिचित् द्रष्टुमायाद्,
बहुविधि गुरुदेवाच्चात्मशङ्का अपास्थात् ।
न तु चरितमलीकं त्यक्तमौषद्धि तेन,
न च नृपपदसाध्यं दर्शितं जीवने वा ॥१३॥

कभी कभी राजा भी ऋषि के दर्शन को आही गये और अनेक प्रकार से गुरुदेव से अपनी शंकाओं को दूर किया। परन्तु अपने निषिद्ध चरित्र को नहीं छोड़ा और न अपने जीवन से यह सिद्ध किया कि मैं नृप हूँ अर्थात् नरों का पालक।

नृप इव खलु लोका आचरन्त्येव लोके,
नृपतिरिह नराणां साधको जीवनानाम् ।
अवति यदि न लोकानात्मशुद्ध्या त्रितापात् ।
न नृपतिपदमानं सोऽर्हति क्षुद्रचेताः ॥१४॥

लोक में लोग वैसा ही आचरण करते हैं जैसे उनके राजे (यथा राजा तथा प्रजा)। राजा ही जगत् में प्रजाजन के जीवनों का सुधारक है। जो आत्म शुद्धि द्वारा लोगों की तीन तापों से रक्षा नहीं करता वह तंगदिल नृपति पद के मान का अधिकारी नहीं है।

नृपभवनमगच्छन्नेकदा पूज्यपादाः,
ददृशुरतुलशोकात् तत्र बीभत्सदृश्यम् ।
कलुषितकुलटायाः सारमेय्याः समीपे
तमवनिमघवानं श्वानमेवाचरन्तम् ॥१५॥

एक दिन ऋषि जी ने राजभवन में जाते हुये अति शोक से एक भीषण दृश्य देखा कि एक दुराचारिणी वेश्या कुतिया के साथ वह भूमि के इन्द्र कुत्तों के समान व्यवहार कर रहे हैं।

(अथैव चौपम्ये इति मेदिनी । 'एव' उपमा वाचक भी होता है) ।

कथय कथय राजन् कीदृशः क्षत्रियोऽसि,
नृपतनुमवधार्य भ्रष्टकार्य्यं करोषि ।
भरतकुलजलोका ईदृशा नाभविष्यन्,
कथमपि नहि देशो ह्रासगर्तेऽपतिष्यत् ॥१६॥

राजा, बता तू कैसा क्षत्रिय है कि राजा का शरीर पाकर भ्रष्ट कार्य करता है। यदि भरत के कुल के लोग ऐसे न होते तो देश कभी ह्रास के गड्ढे में न गिरता।

ऋषिवचनतडिद्भिः कामुकीकामदग्धः,
नमितमुखनरेन्द्रः सोऽन्वभूदात्मदोषान् ।
अनुशयपरिपूर्णश्चिन्तयन् त्यक्तुमेनाम् ,
ऋषिवरमतिनम्रः सन् क्षमां याचते स्म ॥१७॥

ऋषि के वचन रूपी बिजलियों से वेश्या की कामना दग्ध हो गई है जिसकी ऐसे लज्जित मुँह वाले राजा ने अपने दोषों का अनुभव किया और अनुताप करता हुआ वेश्या को छोड़ने का विचार करके ऋषि से नम्रता से क्षमा मांगने लगा ।

समद-मदद-माया-मंजिका मन्जुलास्या,
सपदि मनसि दृष्ट्वा भूपतेर्भेदभावम् ।
सकलजगदशत्रुं वैरिणं मन्यमाना,
मुनिगणमणिमौलिं हन्तुकामा बभूव ॥१८॥

मदवाली और दूसरों को मद देने वाली माया रूपी सुमुखी वेश्या ने राजा के मन में भेदभाव को देखकर सकल जगत् के अशत्रु अर्थात मित्र को अपना वैरी समझकर समस्त मुनियों में शिरोमणि दयानन्द के मारने का इरादा कर लिया ।

कमपि कपटकाया दुर्जनं दुष्टवृत्तिः,
कुटिलकुलकलङ्कं चिक्रिये ब्रह्मबन्धुम् ।
सुजनहितमुपेक्ष्य स्वामिनं स्वर्णजिघ्नुः,
गरलमयपयः सः देवराजं न्यपीप्यत् ॥१९॥

उस कपटिन दुष्टवृत्ति वेश्या ने किसी दुर्जन कुटिल, कुल-कलङ्क, पतितब्राह्मण को खरीद लिया अर्थात् रिश्वत दी। उस सोने के लोलुप ने अच्छे जनों के हितों की उपेक्षा करके स्वामी जी को विष मिला दूध पिला दिया।

धृतधृतिमुनिराजः सज्जितो योगशक्त्या,
झटिति वमनकृत्येनात्मरक्षां चिकीर्षुः ।
गर-गुण-गरिमायाः किन्त्वनिष्टप्रभावः,
यति-तनु-तति-तन्तुं कृन्ततिस्माशु शुभ्रम् ॥२०॥

धृति सम्पन्न मुनिराज योगशक्ति से सुसज्जित होकर शीघ्र ही वमन द्वारा आत्मरक्षा करने के इच्छुक हो गये। परन्तु विष का तीक्ष्ण गुण और उसकी मात्रा इतनी थी कि उसके अनिष्ट प्रभाव ने मुनिराज के शरीर के विस्तार के तन्तु को शीघ्र ही काट दिया।

नृपतिरिदमनिष्टं दुःसहं दुःखपूर्णं,
निजधवलयशश्चन्द्रादराहुं स मेने ।
मुसलिमलघुवैद्यं स्वामिनः स्वास्थ्यपूर्त्यै,
कलुषितकुलकीर्तेर्धावनार्थं युयोज ॥२१॥

राजा ने इस दुःसह दुःखपूर्ण अनिष्ट घटना को अपने श्वेत यश रूपी चन्द्र को भक्षण करने वाला राहु समझा और अपने कुल की बिगड़ी हुई कीर्ति को धोने के लिये एक साधारण मुसलमान डाक्टर को ऋषि के इलाज के लिये नियुक्त कर दिया । अर्थात् बदनामी से बचने के लिये एक मुसलमान डाक्टर को नियत कर दिया ।

न तु बत सफलत्वं प्राप लोक-प्रयासः,
क्रमश ऋषिशरीरक्षीणता वर्धतेस्म ।
प्रचुरसहनशक्त्या सज्जितो योगिराजः,
चिरमधित निजासून् व्याधितप्तेऽपि देहे ॥२२॥

लोगों की कोशिश कारगर न हुई । ऋषि के शरीर की क्षीणता क्रमशः बढ़ती गई । योगिराज में अनुपम सहन शक्ति थी । उसके बल से उन्होंने व्याधि से संतप्त शरीर में भी बहुत दिनों तक प्राणों को धारण रक्खा ।

अविषमखिललोकं कर्तुकामः कपर्दी,
सकलगरलमात्रां कण्ठकोषे निधत्ते ।
यदि कथनमिदं स्यात् सत्यमाश्चर्यमेतद्,
विषमलभत दुष्टः तत्कुतः पाचकोऽसौ ॥२३॥

कहते हैं कि शिव जी ने सकल जगत् को विष-रहित करने के लिये संसार के समस्त विष की मात्रा को कण्ठ में रख लिया। यदि यह कथन सत्य है तो उस दुष्ट रसोइये को विष कहाँ से मिल गया ? यह आश्चर्य है।

अपि च मदनशत्रुः श्रूयते पार्वतीशः,
कुसुमशरजिदासीत् किन्त्वसौ यन्महर्षिः ।
मनुज इह भजेन्मा तुल्यतां मामकीनाम् ,
इति विधदमर्षं शंकरोऽदाद् गरं वा ॥२४॥

यह भी कहा जा सकता है कि पार्वती के पति को कामदेव का शत्रु कहते हैं। (जब पार्वती उनकी स्त्री हैं तो वे कामदेव के शत्रु कैसे ?) ऋषि दयानन्द तो बालब्रह्मचारी थे। उन्होंने साक्षात् ही कामदेव को जीत लिया था। इसीलिये स्पर्धा से लज्जित होकर कि यह कौन आदमी देवता की बराबरी करता है उन्होंने स्वामी दयानन्द के मारने के लिये विष दे दिया होगा।

स्फुरितशुभविचारो योगिराजस्य हन्ता,
मनसि किमपि मत्त्वा रोगशय्यामुपायात् ।
चरणयुगलधूलिं वाष्पवार्भिर्विधूय,
करुणवचनमेतत् शोकरुद्धः स आह ॥२५॥

योगीराज दयानन्द को विष देने वाले के दिल में कुछ शुभ विचार उठा और मन में कुछ सोचकर वह ऋषि की रोग शय्या के पास आया और आँसुओं से उनके चरणों की धूलि को धोता हुआ दुःखी हृदय से यह करुणोत्पादक वचन बोला।

दनुजमनुजमित्र ! शान्तिदान्तिप्रतीक,
गवि करिणि हरौ वा विश्वसाम्यैकदृष्टे ।
असुख-सुख-विभेद-ध्वंसि, कर्तव्यनिष्ठ,
विषयविषमुमुक्षो ! तापसानां वरिष्ठ ॥२६॥

हे असुरों और मनुष्यों सभी के मित्र, हे क्षमा और दम के प्रतिनिधि स्वरूप, गाय, हाथी या शेर में साम्य दृष्टि रखने वाले, सुख दुःख के भेद को विध्वंस करने वाले, कर्तव्य निष्ठ ! विषयरूपी विष से बचने के इच्छुक ! तपस्वी लोगों में सब से श्रेष्ठ !

अघपथपथिकोऽहंजन्मनां घोरपापी,
द्विज-कुल-जनितोऽपि ब्रह्मविद्वेषपूर्णः ।
कनक-कण-कृशानु-भ्रष्टधर्माङ्कुरोर्विः,
भगवति धृतवैरो नारकीयोऽतिमूढः ॥२७॥

मैं पाप के मार्ग का पथिक हूँ। जन्मजन्मान्तर का घोरपापी, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ भी ब्राह्मणों का पूरा द्वेषी, सोने के टुकड़ों की अग्नि ने भून दिया है धर्म का अङ्कुर ऐसी भूमि, आप से वैर करने वाला, नारकी और अतिमूढ़। मैं ऐसा हूँ।

अघभवपरितापैस्तप्तहृद्भावनाभिः,
स्मृत-निज-कृत-दोषोद्भूतवैपुल्यभीतिः ।
अपगतसुखभोग-प्राप्ति-दुःस्थाभिलाषः,
प्रभुचरणसरोजं स्प्रष्टुकामः समागाम् ॥२८॥

पापों से उत्पन्न हुये परिताप ने जिसके हृदय की भावनायें संतप्त कर दी हैं। और उन भावनाओं ने याद दिला दी है मुझे मेरे किये हुये पापों की। और उसके कारण जो भय उत्पन्न हुआ उससे डरा हुआ मैं, सुख भोग प्राप्त करने की दुरूह आशा मैंने छोड़ दी है। अर्थात् मुझे अपने पापों का ज्ञान है और मैं जानता हूँ कि ऐसा आदमी सुख नहीं पा सकता। ऐसा मैं आपके चरण कमल छूने आया हूँ।

असुरसहत पीडां दुःसहां मन्निमित्तात् ,
जगदसहत हानिं दुर्ग्रहां मन्निमित्तात् ।
श्रुतिरसहत गर्हां दुर्जयां मन्निमित्तात् ,
क्षतिमसहत धर्मो दुर्मितां मन्निमित्तात् ॥२९॥

मेरे कारण आपको दुःसह पीड़ा सहनी पड़ी । मेरे कारण जगत् को कठिन हानि उठानी पड़ी । मेरे कारण वेद को दुर्जय अनादर सहना पड़ा । मेरे कारण धर्म की अपार हानि हुई ।

कथमिदमकरिष्यत् स्वामिना सारमेयः,
पशुरपि न च कुर्याच्छत्रुणा सार्द्धमित्थम् ।
धिगिति धिगिति चेतो मामकं मां ब्रवीति,
कथयति विषये मे यज्जनस्तन्न जाने ॥३०॥

कुत्ता भी अपने स्वामी के साथ ऐसा बर्ताव न करता । कोई पशु भी शत्रु के साथ ऐसे न बरतता । मेरा चित्त मुझको धिक्कार रहा है । मेरे विषय में लोक क्या कहते होंगे यह मैं नहीं जानता ।

व्यथितहृदय एषः पापमङ्गीकरोमि,
कथनमपि कदाचित् कालिमानं विधूयात् ।
वदतु वदतु देवः किं मया कार्य्यमस्ति,
नरकदहनदाहं पारयेयम् कथं वा ? ॥३१॥

मैं दुःखी हृदय से अपने पाप को स्वीकार करता हूँ शायद अपने दोष का इकरार करने से मेरी कालिमा दूर हो जाय। महाराज बतावें कि मैं क्या करूँ। नरक की आग के दाह को कैसे पार करूँ।

इति वदति दयाया मूर्तरूपं महात्मा,
"शृणु शृणु मम मित्रं द्रोह दुःखाग्निदग्ध !
द्रवति मम मनस्ते स्वात्मग्लानिं निभाल्य,
भज भव-भय-भाराऽवितृ-वृन्दाऽधिनाथम् ॥३२॥

दया की मूर्ति महात्मा दयानन्द ने ऐसा उत्तर दिया, 'हे द्रोह के लिये अनुतापरूपी अग्नि से जले हुये मेरे मित्र, सुनो! तुम्हारी आत्म-ग्लानि को देखकर मेरा हृदय पिघल गया। संसार के भय के भार से रक्षा करने वाले जो गण हैं उनके नाथ ईश्वर का भजन कर"।

अवतु स हि भवन्तं पाप मार्गाद् दयालुः,
नयतु स हि सुमार्गैरात्मनः शुभ्रधाम।
वपतु मनसि तेऽसौ क्षेत्रपो धर्मबीजम्,
भवतु परमशान्तिः शाश्वती जीवने ते ॥३३॥

वही दयालु ईश्वर तेरी पाप के मार्ग से रक्षा करे। वही अच्छे मार्ग पर चलाकर तुझे अपने ज्योतिर्मय धाम की प्राप्ति

करावे। वही क्षेत्र का पालने वाला तेरे मन में धर्म का बीज बोवे। तेरे जीवन में सदा की शान्ति होवे।

मयि यदि चकृषे त्वं शत्रुतां वाऽहितं वा,
उरसि मम न लेशो द्रोहबुद्धेः कथंचित्।
स्रवति गरललेशं नैव हिंसाप्रवृत्तः,
उरगदशनदंशात् पादपश्चन्दनस्य ॥३४॥

यदि तूने मेरे साथ वैर या अहित किया तो मेरे हृदय में लेश मात्र भी बुरा भाव नहीं है। यदि चन्दन के वृक्ष को साँप काट ले तो वह हिंसा में प्रवृत्त होकर एक बूँद विष भी नहीं उगलता।

तदपि किमपि मित्र त्वत्-प्रसंगे विशंके,
नृप-परिजन-वर्गः प्राप्नुयात् सूचनां चेत्।
अयमिह कृतपाप्मा साधकः साधुमृत्योः,
इति मरणमवश्यं ते दिशेद् दण्डरूपम् ॥३५॥

परन्तु हे मित्र तेरे विषय में मुझे एक शंका होती है। यदि राजकर्मचारियों को पता लग गया कि साधु की मौत में इसी पापी का हाथ है तो तुझे अवश्य ही फाँसी होगी।

इति मनसि कुरु त्वं, याहि, दूरं प्रधाव,
तिरय निजशरीरं, देशसीमां विमुञ्च।
हर धनमिदमस्मद्, धारयाख्यां त्वमन्यां,
भव विमलचरित्रो जीवदीर्घं त्वमायुः ॥३६॥

इसलिये मन में ऐसी धारणा करके यहाँ से भाग जा। और देश की सीमा से बाहर चला जा। मुझसे इतना रुपया लेजा। अपना नाम बदल ले। शुद्ध चाल-चलन बना और चिरंजीवी हो।

जुधपुरजलवाय्वोः प्रातिकूल्यं वितर्क्यं,
यतिवरसुहृदस्तं तत्प्रदेशान्निनिन्युः।
कतिपय दिवसान् स व्युष्य चाऽऽबू महीध्रे,
अथ यतिरजमेरं चान्तकाले समायात् ॥३७॥

स्वामी दयानन्द के मित्रों ने सोचा कि जोधपुर का जलवायु प्रतिकूल पड़ रहा है। अतः वे उनको उस प्रदेश से ले आये। कुछ दिन आबू पहाड़ पर रहने के पश्चात् यति दयानन्द अन्त को अजमेर पहुँच गये।

इत्यार्य्योदयकाव्ये "जोधपुर दुर्घटना" नाम विंशः सर्गः।

एकविंशः सर्गः

यदाऽजमेरस्थजना व्यलोकयन्,
ऋषिं दयानन्दमसाध्यदुःस्थितौ ।
अरिष्टचिह्नानि निभाल्य तन्मुखे,
अगाधशोकाम्बुनिधौ ममज्जिरे ॥१॥

जब अजमेर के लोगों ने ऋषि दयानन्द को असाध्य रोग में फँसा देखा और उनके मुख से मरणासन्न होने के चिह्न देखे तो वे शोक के अगाध सागर में डूब गये ।

भिनायराजस्य निवासितो गृहे,
गराग्निरुग्णः स जगद्गुरुर्महान् ।
समग्रभक्त्याऽस्य व्यधात् चिकित्सनम्
चिकित्सको लक्ष्मणदासपुण्यभाक् ॥२॥

विष की अग्नि से रोगी वह महान् जगद्गुरु भिनाये राज की कोठी में ठहराया गया। पुण्यात्मा डाक्टर लक्ष्मणदास ने बड़ी भक्ति से इलाज किया ।

न सूचिता जोधपुरस्य वासिभिः,
चिरं रुजादौ बहिरार्य्यसज्जनाः ।
उपागमन् पत्रमवेक्ष्य ते जनाः,
यतीश्वरस्यास्य विकार-सूचकम् ॥३॥

जोधपुर वालों ने बहुत दिनों तक बाहर के आर्यों को रोग की सूचना नहीं दी । उन्होंने समाचार पत्र को देखकर जाना कि यतीश्वर बीमार हैं और वह चल पड़े ।

संप्रेषितो ज्येष्ठमलोऽजमेरतः,
द्रष्टुं तदा जोधपुरे मुनीश्वरम् ।
विलोक्य वैषम्ययुतां परिस्थितिम्,
अवाक् स तस्थौ प्रभुरोगचिन्तितः ॥४॥

अजमेर से जेठामल भेजे गये कि जोधपुर में ऋषि को देख आवें । वहाँ उनकी विषम स्थिति को देखकर रोग की चिन्ता में वह दंग रह गये ।

समस्त देशस्य समाजसंसदः
संसूचिता आशु नरेण धीमता ।
विहाय कार्य्याणि निजानि पूरुषाः,
समाययुर्द्रष्टुमृषिं तपोधनम् ॥५॥

उस बुद्धिमान पुरुष ने देश भर के समाजों को सूचना दी। और लोग अपने अपने कामों को छोड़ कर तपस्वी ऋषि को देखने आने लगे।

लाहौरतो द्वौ गुरुदत्तजीवनौ,
उदैपुरान्मोहनलालशीलवान्।
तथाऽपरेऽप्यागुरवेक्षणोत्सुकाः,
निरन्तरं चिन्तिततान्तमानसाः ॥६॥

लाहौर से पं० गुरुदत्त और लाला जीवनदास दो सज्जन आये। उदयपुर से मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या! और भी बहुत से ऋषि के दर्शनों के उत्सुक चिन्तित लोग निरन्तर आते रहे।

दावानलप्लुष्टवनस्थशाखिनः,
प्रालेय-शीत क्षत-पद्मिनी-वनम्।
तथा निराशा खलु जीवने मुनेः,
जघान सर्वांश्च मनोरथान् सताम् ॥७॥

जैसे दावानल बन के वृक्षों को जला देता है या जैसे तुषार की ठंडक से कमलिनी का बन नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वामी दयानन्द के जीवन की निराशा ने सत्पुरुषों के सब मनोरथों को मार दिया।

वेदस्य भाष्यं क उ पूरयिष्यति ।
सत्यस्य तत्त्वं क उ बोधयिष्यति ।
धर्मस्य मार्गं क उ दर्शयिष्यति ।
भवं भवाब्धेः क उ तारयिष्यति ॥८॥

वेद के भाष्य को कौन पूरा करेगा ? सत्य के तत्त्व को कौन जनायेगा ? धर्म के मार्ग को कौन दिखायेगा ? भवसागर से दुनियाँ को कौन पार लगायेगा ?

पिता समाजस्य विहाय शैशवे,
गन्ताऽस्त्यभागस्य तु खल्वरक्षिते ।
अबोधबालं पितृविप्रयोजितम् ,
सुवेष्टितं शैशवरोगराजिभिः ॥९॥

अभागे आर्य्य समाज के पिता अरक्षित बाल्यकाल में ही उससे जुदा हो रहे हैं। जैसे अबोध बालक को बाल रोगों में घिरा छोड़ कर उसके मा बाप चल बसे।

शोकाऽशनिव्याहतमानसा जनाः,
नैराश्य-सम्मोह-विमूढचेतनाः ।
इतस्ततोऽयन्त्यजमेरवासिनः
मूकाः क्वचित् प्रश्न-चिकीर्षवः क्वचित् ॥१०॥

शोक की बिजली से जले हुये मनों वाले, निराशा और मोह तथा किंकर्त्तव्य-विमूढता के कारण जिनकी चेतना मारी गई है ऐसे अजमेर के निवासी इधर से उधर जाते थे। कुछ चुप थे। कुछ किसी से कुछ पूछना चाहते थे।

कथं व्यतीतानि चतुर्दिनानि वै,
निशाश्चतस्रश्च तदानुगास्तदा ?
मासाः ? शताब्द्योऽथ चतुर्युगानि वा ?
न शक्यते वर्णयितुं कथं चन ॥११॥

वे चार दिन कैसे बीते ? और उनके बाद आने वाली चार रातें कैसे बीतीं ? क्या यह चार महीने थे ? या चार शताब्दियाँ थीं ? या चार युग थे ? कुछ कहा नहीं जा सकता।

युगानि गच्छन्ति सुखे निमेषवत्,
पलानि दुःखे युगवत् यथा तथा।
कालस्य मन्ये गणनं न भूगतेः,
सुखेषु दुःखेषु हि तद्विभाजनम् ॥१२॥

सुख में युग के युग पलभर प्रतीत होते हैं और दुःख में पल पल भी युग के समान लम्बा हो जाता है। मैं समझता हूँ

कि काल की गणना पृथिवी की गति से नहीं होनी चाहिये। उनका विभाजन सुख और दुःख के अनुसार होना चाहिये।

परन्त्ववस्था मनसस्तपस्विनः,
आश्चर्य-वैचित्र्य-युता विलक्षणा।
शरीरकष्टानि महान्ति रोगिणः,
विचक्रिरे नैव मनस्तु योगिनः ॥१३॥

परन्तु तपस्वी दयानन्द के मन की अवस्था तो आश्चर्य-जनक, विचित्र और विलक्षण थी। रोगी के शरीर के कटु कष्ट भी योगी के मन की वृत्तियों में विकार नहीं ला सके।

निधाय पत्यौ निधनस्य मानसम्,
शुश्राव लेशान्न स मृत्युडिंडिमम्।
यो वेत्ति भेदं चिदचित्स्वरूपयोः,
बिभेति मृत्योर्न जनस्तु मृत्युजित् ॥१४॥

उन्होंने मृत्यु के पति ईश्वर में अपना ध्यान लगा लिया (वेद में कहा है "यस्य मृत्युः" मृत्यु भी उसी ईश्वर की है) और मृत्यु के ढोल को सुना तक नहीं। अर्थात् मृत्यु की परवाह नहीं की। जो चित् और अचित् का भेद समझ लेता है वह मृत्युञ्जय हो जाता है और मृत्यु को नहीं डरता।

यदा गतो मर्त्यतनोः स, तत्क्षणम्
निजुह्नुवेऽन्यत्र तथा दिनेश्वरः ।
न दर्शयामास नभस्तले मुखं,
समग्ररात्रौ स च शर्वरीपतिः ॥२०॥

जब मरणशील शरीर से वे चले तो तुरन्त ही सूरज कहीं जा छिपा और चाँद ने रात भर आकाश में मुँह नहीं दिखाया ।

महान्तकातङ्कभरा भयङ्करी,
कुलक्षणा सा कटु-कष्टदा क्षपा ।
दौर्भाग्यदात्री तमसाऽऽवृताऽभवत्,
निशा निशानाथ-वियोग-दुःखभाक् ॥२१॥

बड़े अन्तक अर्थात् मृत्युराज के आतंक से भरी हुई वह भयङ्कर, कुलक्षणा, और क्लेशदा रात्री थी, दुर्भाग्य की देने वाली और अंधेरे से व्याप्त वह रात्रि अपने पति चन्द्रदेव के वियोग के दुःख की भागिनी हो गई ।

ऋषौ प्रयाते, ह्यजमेर पत्तनम्,
क्रियाविहीनं मृतरूपतां दधौ ।
शोकातिशय्यं, गतिशून्यताऽरुचिः,
खाद्येषु पानेषु तथा च जीवने ॥२२॥

ऋषि के मरने पर अजमेर नगर ने क्रियाहीन लाश का रूप धारण कर लिया। अत्यन्त शोक, गतिशून्यता और, खाने पीने जीवन में अरुचि। अर्थात् सब सुस्त थे और उनको खाना पीना अच्छा नहीं लगता था।

न दर्शकृत्येषु रुचिर्न पर्वणि,
नून् नन्दयामास न दीपमालिका।
हिरण्यपुंजं विरहय्य के जनाः,
संप्राप्नुवन्त्येव वराटकैः सुखम् ॥२३॥

किसी की त्यौहार के मनाने में रुचि न थी। दीपमालिका लोगों को अच्छी नहीं लगी। कौन आदमी ऐसे हैं जो सोने के ढेर को खोकर कौड़ियों से सुख प्राप्त करते?

परेद्यवि श्रौतविधेरकारि तैः,
शरीर दाहः शुचिहव्यवाहने।
एकोनषष्ट्यब्दपराऽनुबन्धता,
इत्थं समाप्ताऽऽत्मशरीरयोर्मुनेः ॥२४॥

दूसरे दिन वैदिक रीति से शरीर का पवित्र अग्नि में दाह किया गया। इस प्रकार स्वामी जी के आत्मा और देह का ५९ वर्ष का सम्बन्ध समाप्त हो गया।

दयाप्रजाऽऽनन्द ऋषेर्निजात्मनः,
तं प्रापयामास परां गतिं शुभाम् ।
दया तथाऽऽनन्द इह प्रचारितौ,
लोकस्थनृभ्योऽभवतां समर्थकौ ॥२५॥

दया से उत्पन्न हुये आनन्द ने ऋषि के अपने आत्मा को परमगति के प्राप्त कराने में सहायता की। इस लोक में जो उन्होंने दया और आनन्द का प्रचार किया उन दोनों गुणों ने संसारी लोगों के काम काज में सहायता दी।

आभ्यां गुणाभ्यामनुयायिनो मुनेः,
सुसज्जितार्य्या निजदेशसेवकाः ।
संयेतिरे मोचयितुं स्वभारतं,
त्रितापवर्गादुत वाममार्गतः ॥२६॥

दया और आनन्द दोनों गुणों से सुसज्जित होकर ऋषि दयानन्द के अनुयायी आर्य्यों ने देश सेवक बनकर भारतवर्ष को तीन तापों से तथा उलटे मार्ग से छुड़ाने का बहुत यत्न किया।

विद्याविहीनत्वविनाशदृष्टितः,
सर्वत्र विद्यालयतन्तुमावयन् ।
समाप्नुवन् यत्र सुखेन शिक्षणं,
सहस्रशो बालकबालिकागणाः ॥२७॥

विद्या की कमी को दूर करने की दृष्टि से उन्होंने सब जगह विद्यालयों का तांता पूर दिया, जहाँ हजारों बालक बालिकाओं ने सुख से शिक्षा प्राप्त की।

अनाथवर्गस्य निभाल्य दुर्दशाम्,
अस्थापयन् रक्षणमन्दिराणि ते।
विमोच्य वैधर्मवशात् सुरक्षिता,
इमे निरास्थन् पितृहीनतामतिम् ॥२८॥

अनाथों की दुर्दशा देखकर अनाथालय खोले, वहाँ विधर्मियों के चंगुल से बचकर सुरक्षित रूप में वे मा बाप के अभाव की मनोवृत्ति को दूर कर सके।

अल्पायुषि भ्रान्तजनै र्विवाहिताः,
पंचालिका-क्रीडन-योग्य कन्यकाः।
वैधव्यदावानलदग्धजीवना:
अयापयंऽस्ता अघ-ताप जीवनम् ॥२९॥
विलोकिता साऽऽर्यसमाजनेतृभिः
कुलाङ्गनानामकुलीनदुःस्थितिः।
दयाऽर्द्रितैः शास्त्रविधिः पुरातनः,
पुनर्विवाहस्य पुनः प्रचारितः ॥३०॥

भ्रान्त लोगों ने गुड़ियों से खेलने योग्य बालिकाओं का छोटी आयु में विवाह कर दिया और जब वह विधवा हो गई तो पाप और दुःख का जीवन बिताने लगीं। आर्य्य समाज के नेताओं ने देखा कि कुलीन स्त्रियाँ ऐसी दुर्दशा में हैं तो उन्होंने शास्त्रोक्त पुरानी पुनर्विवाह की प्रथा को फिर जारी कर दिया।

वेदा अपेक्ष्या जनवर्गशान्तये,
वेदप्रचारं न विना तदर्थता।
समाजसद्भिर्विनियोजितस्ततः,
वेद-प्रचारो भुवि सर्वजातिषु ॥३१॥

मनुष्य मात्र की शान्ति के लिये वेद आवश्यक हैं। वेद प्रचार के बिना यह काम हो नहीं सकता। इसलिये समाज के सदस्यों ने यह योजना बनाई कि संसार भर की सभी जातियों में वेद प्रचार किया जाय।

सदस्यताऽस्त्यार्य्यसमाजसंसदि,
न जन्मभेदेन न लिङ्ग-रङ्गतः।
प्रवेष्टुमर्हन्ति समस्तमानवाः,
न देशभेदो न च बाध्यताऽन्यथा ॥३२॥

आर्य्य समाज की सदस्यता के लिये न जन्म की कैद है न लिङ्ग की, न रंग की, सभी मनुष्य प्रविष्ट हो सकते हैं। न देश की कैद है न और कोई कैद।

नराश्च नार्य्यश्च भुवीशसंततिः,
समानभावेन मिथः समन्विताः।
यदात्मतत्त्वस्य समानताधिया,
न मन्यते भेदमतिः जने जने ॥३३॥

पृथिवी पर सभी नर नारी ईश्वर की सन्तान हैं, समान भाव से परस्पर मिले हुये हैं। बुद्धिमान् लोग आत्म तत्त्व की समानता को समझ कर एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के आत्मा में कोई भेद भाव नहीं मानते।

अन्तःस्थ दोषान् प्रतिकर्त्तुमादितः,
आसीत् समाजस्य सदा महोद्यमः।
विना न शुद्धिं मनसां तनूभृताम्,
अदासतां देश उपैति कश्चन ॥३४॥

आर्य्य समाज का आदि से यही घोर प्रयत्न रहा है कि भीतरी दोषों को दूर किया जाय। प्राणियों के मन जब तक शुद्ध नहीं होते कोई देश स्वतंत्र नहीं हो सकता।

स्वदेशमुक्त्यै परदेशपाशतः,
कृतः समाजेन परिश्रमो महान् ।
स्वतन्त्रताभाव उतात्मगौरवम् ,
उप्तं समाजेन हि लोकचेतसि ॥३५॥

अपने देश को दूसरे देश के जाल से छुड़ाने के लिये समाज ने बहुत परिश्रम किया। लोगों के मनों में स्वतंत्रता का भाव और आत्म-गौरव का बीज समाज ने ही बोया।

तुच्छीकृता भारतपूर्वसंस्कृतिः,
जनैर्विदेशीयमत-प्रभावितैः ।
पुनर्दयानन्दमुनिर्व्यधापयत् ,
श्रद्धां स्वदेशीयमते च संस्कृतौ ॥३६॥

विदेशी धर्मों के प्रभाव में आये हुये लोगों ने भारत की पुरानी संस्कृति को तुच्छ समझकर उसका अनादर किया। स्वामी दयानन्द ने स्वदेशी धर्म और संस्कृति के लिये फिर श्रद्धा स्थापित कराई।

स्यामेत्यदीनाः शरदः शतं वयम् ,
उपासनायामजपन् सभासदः ।
प्रातश्च सायं प्रति वासरं तथा,
स्वातन्त्र्यवातावरणं प्रतेनिरे ॥३७॥

सभासद लोग प्रतिदिन सायं प्रातः संध्या में यह जपने लगे कि हम सौ वर्ष तक अदीन रह कर जियें। इस प्रकार उन्होंने स्वतंत्रता का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

वितत्य शास्त्रार्थमवैदिकैर्मतैः,
संस्थापितं चात्ममतस्य गौरवम्।
शनैः शनैरात्मजुगुप्सनं नृणाम्,
दूरीकृतं तैश्च समाजनेतृभिः ॥३८॥

वेद विरुद्ध मतवालों से शास्त्रार्थ करके अपने धर्म के गौरव को स्थापित किया। इस प्रकार समाज के नेताओं ने मनुष्यों के दिलों से आत्म-ग्लानि का भाव दूर कर दिया।

प्राचीनवीरोचितपुण्यगीतिकाः,
पराक्रमाणां भरतस्य संततेः।
अगासिषुस्ते सततं प्रचारकाः।
नवां नवां स्फूर्तिमधुस्तरां नृषु ॥३९॥

आर्य्य समाज के प्रचारकों ने प्राचीन भारत के वीर पुत्रों के पराक्रमों के निरन्तर गीत गये और लोगों के हृदयों में नया-नया जोश भर दिया।

जन्माश्रितां दूषितजातिभिन्मतिम् ,
यया विभिन्नाऽखिलजातिसंगतिः ।
अपास्य युक्त्या श्रुतिभिश्च मूलतः,
दृढीकृता जाति-बल-व्यवस्थितिः ॥४०॥

जाति भेद की जन्मपरक दूषित वृत्ति को जिसके कारण समाज का संगठन तितर वितर हो गया था युक्तियों और शास्त्र के प्रमाण द्वारा दूर करके जाति को सबल बना दिया।

क्रमात् क्रमात् क्रान्तिपथानुगामिनी,
प्रत्नार्य्यजातिः पुनरुत्थिता सती।
असत् त्यजन्ती च सदाचरन्ती,
दासत्वपाशान् शनकैरशादसौ ॥४१॥

क्रमशः क्रान्ति के मार्ग का अनुसरण करती हुई प्राचीन आर्य्य जाति फिर उठ खड़ी हुई और असत्य को त्याग कर तथा सत्य को ग्रहण करके शनैः शनैः दासता की बेड़ियों को घिसने लगी।

चिरस्थितं किन्तु विदेशशासनम् ,
सुखं समायान् , न तु याति शान्तितः।
विषस्य पानं सुगमं प्रतीयते,
न तस्य पीतस्य तथा वमीक्रिया ॥४२॥

परन्तु जो विदेशी राज बहुत दिनों से चला आता है वह आ तो आसानी से गया। परन्तु उतनी शान्ति से जा तो नहीं सकता। विष पीना आसान है। उसको कै करके निकालना कठिन है।

विनम्रभावेन विदेशिनो जनाः,
आयान्ति तिष्ठन्ति विशन्ति मित्रवत्।
यदाऽप्नुवन्त्येव कथंचनासनम्,
रक्षन्ति तच्छत्रुसमा बलेन ते ॥४३॥

विदेशी लोग नम्र होकर आते हैं। नम्रता से खड़े होते हैं और मित्र के समान बैठ जाते हैं। परन्तु जब एक बार किसी प्रकार जगह मिल गई तो शत्रु के समान बल दिखा कर उस जगह की रक्षा करते हैं।

तृणेढि दावादहनस्तृणं पुरः,
ततश्च वृक्षान् बृहतः क्रमात् क्रमात्।
तथैव तुच्छान् प्रथमं विजित्य ते,
समग्रदेशं गमयन्ति दासताम् ॥४४॥

बन की आग पहले तृण को जलाती है और फिर क्रम क्रम से बड़े वृक्षों को भी। इसी प्रकार बाहर वाले पहले छोटों को जीतते हैं और फिर समस्त देश को दास बना लेते हैं।

सौधानि ते निर्मिमते नभःस्पृशः,
नगेषु रम्येषु जलाशयेषु वा ।
समस्तसौख्यप्रदवस्तुमण्डलम् ,
तद्भोगहेतो र्भवतीह संचितम् ॥४५॥

रम्य पहाड़ों पर और जलाशयों के निकट अपने लिये गगन-चुम्बी महल बना लेते हैं और समस्त सुख की सामग्री उन्हीं के भोग के लिये संचित हो जाती है।

दासीकृता मौलिकदेशवासिनः,
व्रजन्ति निम्नस्थदशां शनैः शनैः ।
हितानि तेषां तु सदैव शासकैः,
पराक्रियन्ते पशुपक्षिणां यथा ॥४६॥

देश के असली निवासी दास बन जाते हैं और उनकी दशा धीरे धीरे बिगड़ जाती है। शासक लोग इनके हितों की इसी प्रकार अवहेलना करते हैं जैसे पशु पक्षियों की।

न रक्तशुद्धिर्न कुलस्य गौरवं,
विशालता नापि विचारकर्मणोः ।
स्वातंत्र्यनाशे खलु सर्वनाशिता,
वसन्ति दासेषु गुणा न केचन ॥४७॥

रक्त की शुद्धि भी नहीं रहती। (वर्णसङ्करता बढ़ जाती है) कुल का गौरव भी नहीं रहता। स्वतंत्रता के नाश से सब नाश हो जाता है। दासों में कोई गुण नहीं रहने पाते।

यदा यथा यो विजहाति दासताम्,
तदा तथा सः सबलं प्रचूर्ण्यते।
इत्थं परैः शासितदेशदासता,
सहस्रवर्षेषु न पर्यवस्यति ॥४८॥

जब जैसे जिस किसी ने दासता छोड़नी चाही, तभी तैसे ही उसको बलपूर्वक पीस डाला जाता है। इस प्रकार से दूसरे लोगों के शासन में युगयुगान्तर में भी दासता का अन्त नहीं होता।

यदाऽऽरभद् विंशतिका शताब्दिका,
सर्वेषु राज्येषु विभूतिशालिषु।
इंग्लैण्डराज्यं बलवत्तमं भुवि,
तस्यैव भागस्तु दरिद्रभारतम् ॥४९॥

ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरंभ में सब वैभव शाली राज्यों में इंग्लैण्ड का राज्य भूमण्डल में सबसे बलवान था और दरिद्र भारत उसी का एक भाग था।

पृथ्वीस्थसेनासु समुद्रशक्तिषु,
अस्त्रेषु शस्त्रेषु कलासु नीतिषु ।
बुद्धौ च कीर्तौ च बले च पाटवे,
इंग्लैण्डसाम्राज्यसमं न किंचन ॥५०॥

थल और जल की शक्तियों में, अस्त्र, शस्त्र, कला, नीति, बुद्धि, कीर्ति, बल और चातुर्य में इंग्लैण्ड के समान कोई साम्राज्य नहीं था ।

विशालसाम्राज्यबलस्य दासताम् ,
अलं तरीतुं न सुखेन भारतम् ।
यंत्रस्थसिद्धार्थसमं स्म मन्यते,
स्वं कूटनीतिज्ञकुचक्रचक्कितम् ॥५१॥

भारत इतने बड़े राज्यबल की दासता को सुगमता से नहीं छोड़ सकता था। जैसे चक्की में पड़ी हुई सरसों छुटकारा पाने में असमर्थ होती है इसी प्रकार यह भी कूटनीतिज्ञ लोगों के कुचक्र में अपने को फँसा हुआ और दुःखित समझता था ।

योरोपगौराङ्गबलिष्ठजातिभिः,
विभाजितं सर्वजगत् परस्परम् ।
न भूमिभागो न जलाशयः क्वचित् ,
तासां न कस्या अपि यस्तु शासने ॥५२॥

यूरोप की गोरी बलवान जातियों ने सारा जगत् आपस में बाँट रक्खा था। कोई थल भाग या जल भाग ऐसा न था जो इनमें से किसी एक के आधीन न हो।

तथाप्यसन्तोषजशक्तिकामना,
बभूव तासामपि नाशकारणम्।
अन्यस्य वृद्धेः सहनेऽक्षमा जनाः,
पस्पर्धिरे शक्तिमदान्धतेरिताः ॥५३॥

तिस पर भी असन्तोष था और हर एक अपनी शक्ति को बढ़ाने की इच्छा करता था। यही उन जातियों के भी नाश का कारण हो गया। शक्ति के मद में अन्धे होकर वे दूसरों की वृद्धि को न देख सके और लड़ पड़े।

द्वीपान्तरं दैववशात् तदोत्थितं,
प्राच्यां प्रशान्तार्णव-मध्य-सुस्थितम्।
एश्या-महाद्वीप-ख-नूतन-चन्द्रवत्,
नुदन् विनिम्नीकृतलोक-दुस्तमः ॥५४॥

भाग्यवश उस समय पूर्व दिशा में प्रशान्त महासागर का एक द्वीप (जापान) उठ खड़ा हुआ। जिसको एशिया महाद्वीप के आकाश का द्वितीया का चाँद कहना चाहिये। इसने दलित लोकों के रात के अँधेरे को दूर कर दिया।

जापान-तुच्छाखुरपाकृषद् यदा,
रूसर्क्षकूर्चस्य कचानवज्ञया।
लघु प्रदेशा अपि चक्रिरे भृशं,
स्वमोक्षलाभाय शिरःसमुच्छ्रितिम् ॥५५॥

जब जापान रूपी तुच्छ चूहे ने रूसी रीछ के डाढ़ी के बाल धृष्टता से उखाड़ लिये तो छोटे देशों ने भी अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये सिर उठाया।

नवाभिराशाभिरभूत् प्रपूरितम्,
स्वभावतस्तेन मुमुक्षुभारतम्।
यत्ना अनेका विहिता हि भारतैः,
प्रभञ्जनार्थं निगडान् परैर्धृतान् ॥५६॥

इससे स्वभावतः भारतवर्ष को नई आशायें हुईं। और विदेशियों के बिछाये हुये जालों को तोड़ने के लिये बहुत सी कोशिशें की गईं।

शशाङ्क-मुन्यङ्क-मृगाङ्कविक्रमे,
जज्वाल युद्धस्य भयंकरानलः।
यस्मिन् मनुष्यादकृतान्तदेवता,
संतोषिता मानवलक्षकोटिभिः ॥५७॥

१९७१ विक्रमी में युद्ध की भयंकर अग्नि जल उठी, जिसमें मनुष्यों को खाने वाले मृत्यु देवता की सन्तुष्टि के लिये लाखों करोड़ों मनुष्यों के प्राण चले गये।

ऋतुग्रहाङ्कौषधिगर्भविक्रमे,
सैव प्रचण्डा रणचण्डिकाऽऽगता।
यया नृ-हत्या-प्रिय-लीलया कृतम्,
यमालयालात-लय-प्रदर्शनम् ॥५८॥

१९९६ वि० में फिर वही प्रचण्ड रणचण्डी आ गई जिसकी नरहत्या-प्रिय-लीला ने नरक से लाई हुई जलती आग से उत्पन्न की हुई प्रलय का दृश्य दिखा दिया। मानो प्रलय आ गई।

ताभ्यां रणाभ्यां मद-मोद-मज्जिताः,
अनीश्वरज्ञा नव-गौर-जातयः।
पुनः पुनर्मर्दितमानविभ्रमाः,
विमोहनिद्रामपनीय जागृताः ॥५९॥

उन दोनों युद्धों ने अभिमान और विलास में फँसी हुई नास्तिक नई गोरी जातियों के मान को बार बार चूर करके उन्हें मोह निद्रा से जगा दिया।

सौभाग्यतो गुर्जर-मातृ-भूः पुनः,
अजीजनद् भारत-पाश-भंजकम् ।
गांधी-मुनिं मोहनदासतापसम् ,
अपूर्वबुद्धिं च विचित्रसाहसम् ॥६०॥

सौभाग्य से गुजरात की धरतीमाता ने फिर भारतवर्ष की बेड़ियों को तोड़ने वाला पैदा कर दिया। अर्थात् तपस्वी मुनि मोहनदास कर्मचन्द गाँधी को जिनमें अपूर्व बुद्धि और विचित्र साहस था।

त्रिंशत् समाः भारतमातृनन्दनः,
चकार यत्नं सततं विमुक्तये ।
यदेव गांधी कृतवान् तपोधनः,
शशाक कर्त्तुं न कदाऽपि कश्चन ॥६१॥

भारत माता का यह लाल स्वतंत्रता के लिये लगातार तीस वर्ष तक यत्न करता रहा। जो तपोधन गाँधी ने कर दिखाया वह पहले कभी कोई नहीं कर सका।

पुरा बभूवुर्बलिनां बलिष्ठाः,
मुष्ट्या हता यैः करिणः करिद्विषः ।
पुरा बभूवुः सुभटा अरिंदमाः,
रसा कृता यैररिपुरक्तरंजिता ॥६२॥



महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी

पहले ऐसे बली हो गये हैं जिन्होंने हाथी और शेरों को घूँसों से मार डाला। पहले ऐसे वीर हो गुजरे हैं जिन्होंने शत्रुओं के रक्त से पृथिवी रंग दी।

पुरा बभूवुर्जयिनो जय-श्रियः,
वशीकृता यैश्च समस्तमेदिनी।
पुरा बभूवुर्महिता महीभुजः,
महाभुजैर्यैरसुराः पराजिताः ॥६३॥

पहले ऐसे विजयी हो गये हैं जिन्होंने सारी पृथ्वी जीत ली। पहले ऐसे पूज्य राजे हो गये हैं जिन्होंने अपने बाहुबल से राक्षसों को पराजित कर दिया।

परन्तु गांधीमुनिना तपस्यया,
अलौकिकं कौतुकमश्रुतं कृतम्।
निश्शस्त्र-निःसेन-निरस्त्र-निर्धनः,
प्रसह्य गां सिंहमुखादमोचयत् ॥६४॥

लेकिन गाँधी मुनि ने तपस्या से वह अलौकिक कौतुक दिखाया जो पहले कभी सुनने में नहीं आया। उन्होंने बिना

शस्त्र, सेना, अस्त्र या धन के जबरदस्ती सिंह के मुख से गाय छुड़ा ली। अर्थात् इंग्लैण्ड वालों से भारत को मुक्त करा दिया।

अपूर्वयोगो मुनिना व्यवस्थितः,
निवेदितास्तेन समस्त भारताः।
हिंसाऽनृते मानवजाति घातके,
त्यक्त्वैव ते शान्तिमियादिदं जगत् ॥६५॥

गाँधी मुनि ने एक विलक्षण नुसखा बताया। उन्होंने भारत-वासियों से कहा कि "हिंसा और झूठ यह दो मनुष्य जाति के घातक हैं। इन्हीं को छोड़ कर जगत् में शान्ति हो सकती है।

दधात्वहिंसामृजुतां तथा जनः,
मनोविचारे वचने च कर्मणि।
विहाय ते कोऽपि न देश एधते,
ददाति योग्याय विधिः स्वतंत्रताम् ॥६६॥

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अहिंसा और सत्य को मन, वचन और कर्म में धारण करें। इन दोनों को छोड़ कर कोई देश उन्नति नहीं कर सकता। ईश्वर योग्य को ही स्वतंत्रता देता है।

स्वदेशभक्त्या परिपूरितो जनः,
स्वदेशवस्तूनि हि सेवतां सदा ।
सृजेत् स्वतन्तु स वयेत् तथा पटम्,
परेषु कुर्य्यान्न कदाचिदाश्रयम् ॥६७॥

मनुष्य को चाहिये कि देश की भक्ति से परिपूर्ण होकर अपने ही देश की चीजों का इस्तैमाल करें। अपने हाथ से काते और स्वयं कपड़ा बुने। दूसरों के कभी आश्रित न होवे।

इत्थं तनूकृत्य दरिद्रतां निजां,
सहाययोगं न करोतु शासकैः ।
सहेत कारागृहवेदनां परां,
दधातु बाधां च समस्तशासने ॥६८॥

इस प्रकार अपनी दरिद्रता को कम करे। शासकों से सहयोग न करे। जेल की कठिन से कठिन पीड़ा को सहन करे और समस्त शासन में बाधा डाले।

मिथो मिलित्वा यदि देशवासिनः,
स्वार्थं विमुच्यैव चलन्तु वत्सरम् ।
अवश्यमाङ्ग्ला झटिति त्यजन्तु नः,
वयं स्वतंत्राश्च भवेम सर्वतः ॥६९॥

यदि सब देशवासी स्वार्थ को छोड़कर परस्पर मेल से इस प्रकार साल भर भी रहें तो अँगरेज हमको छोड़ कर भाग जायं और हम स्वतंत्र हो जायं।

शुश्राव देशो वचनं तपस्विनः,
अनन्यवृत्त्याऽनुजगाम तं मुनिम्।
असेवि कारागृहवाससंकटम्,
लक्षैर्नृणां तेन महात्मना सह ॥७०॥

देश ने तपस्वी के वचन एक मन होकर सुने और उनका अनुकरण किया। लाखों मनुष्यों ने महात्मा के साथ जेल के संकट सहे।

अथाम्बुधिव्योमखनेत्रवत्सरं,
कृपालुरीशः प्रददौ स्वतंत्रताम्।
वृद्धाऽऽर्य्यजातिः पुनरुद्ययौ, भुवि
कर्तुं प्रचारं शुभवेदसंस्कृतेः ॥७१॥

अब २००४ वि० के शुभ वर्ष में ईश्वर ने कृपा करके स्वतंत्रता दिला दी। बूढ़ी आर्य्य जाति फिर एक बार संसार में शुभ वेद संस्कृति का प्रचार करने के लिये उठ खड़ी हुई।

एकविंशः सर्गः

सर्गादौ पुरुषेण येन रचितं पूर्णेन पूर्णं जगत्,
नाना यश्च बिभर्ति जीवनिकरान् भोगाय वा कर्मणे।
धर्माधर्मविवेचनार्थमथवा वेदांश्च नृभ्यो ददौ,
पात्वस्मान् स तथाऽऽर्य्यजातिमखिलां शान्त्यै च नः संस्कृतिम्॥

जिस पूर्ण ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में पूर्ण जगत् रचा। और जो नाना जीवों का भोग या कर्म के लिये पालन करता है और जिसने धर्म अधर्म की विवेचना के लिये मनुष्यों को वेद दिये वह हमारी और सकल आर्य्य जाति की एवं हमारी संस्कृति की रक्षा करे जिससे संसार में शान्ति का लाभ हो।

इत्यार्य्योदयकाव्ये "आर्य्य संस्कृत्युदय" नामैकवि

॥ समाप्तमार्य्योदयकाव्यम् ॥

परिशिष्टम्

कवेरात्मपरिचयः

सिद्धिकालाङ्कचन्द्रेऽब्दे, भाद्रमासे सिते दले ।
मंगले च त्रयोदश्यां, 'नद्रय्यां' जन्म मेऽभवत् ॥ १ ॥

'कुंजविहारीलाल'स्य 'गोविन्द्या'श्च तनूद्भवः ।
'गंगाप्रसाद' नामाऽहम् 'उपाध्याय' इतीरितः ॥ २ ॥

'एटा' प्रान्त गते ग्रामे 'मर्थरा' नाम धारिणि ।
पूर्वजानां निवासो मे, 'फूलचन्दः' पितामहः ॥ ३ ॥

अनुजः 'फूलचन्द'स्य 'डम्बरलाल' नामभृत् ।
'नद्रयी' कृतवासोऽसौ, तातं मे पुत्रवद् दधौ ॥ ४ ॥

'मर्थरा' स्थितशालायां विद्यारम्भो बभूव मे ।
तथा 'एटा'स्थ शालायामन्ते 'चालीगढ़े' तथा ॥ ५ ॥

'उपाध्यायं' इतिख्यानं 'प्रयागे' लब्धवानहम् ।
विद्याऽध्यापन कार्ये च प्रायो मे जीवनं गतम् ॥ ६ ॥

जाया मेऽस्ति 'कलादेवी' सती साध्वी गुणाऽन्विता ।
चत्वारः सन्ति मे पुत्रा रामरामानुजा इव ॥ ७ ॥

'सत्यप्रकाश'स्तु कुलप्रकाशकः
'रत्न' प्रियो ज्येष्ठतमश्च तत्त्ववित् ।
'विश्वप्रकाशो' गृहमानवर्धको,
'मन्दालसा'वल्लभ आत्मवित् सुधीः ॥ ८ ॥

श्री 'श्री प्रकाशः' 'सुमन'-प्रियो बुधः
स्निग्धः पटु वंशविभूतिवर्धनः ।
'रविप्रकाश'श्चतुरः सुशिक्षितः
कनिष्ठ-गम्भीर-सुहृद्गण-प्रियः ॥ ९ ॥

एका तनूजा विदुषी 'सुदक्षिणा'
'प्रेम'-प्रिया बुद्धिमती कुलप्रभा ।
पौत्राश्च पौत्र्यो, दुहितुः सुतासुतौ,
प्रकाशयन्त्येव कृपाल्वनुग्रहम् ॥१०॥

उपदेशेन बाल्ये हि दयानन्दयतेरहम् ।
आर्यसामाजिकोऽभूवं, प्रियवैदिकसंस्कृतिः ॥११॥

पालयन्तस्ततो धर्मं समाजस्य यथाविधि ।
प्रयाग एव तिष्ठामः पुत्रपौत्रयुता वयम् ॥१२॥

सिद्धि-व्योम-नभोनेत्रे षष्ठ्यां च श्रावणे सिते ।
आर्योदयस्य काव्यस्य समाप्तिरभवद् बुधे ॥१३॥

कवि का संक्षिप्त आत्म-परिचय

मेरा नाम गंगाप्रसाद उपाध्याय है। मेरे पिता का नाम श्री कुंजबिहारीलाल जी और माता का नाम श्रीमती गोविन्दी जी था। मेरे पितामह श्री फूलचन्द जी 'एटा' जिले के 'मथरा' गाँव के निवासी थे। उनके छोटे भाई श्री डम्बरलाल जी कासगंज के पास काली नदी के किनारे 'नदरई' गाँव में रहते थे। उनके कोई सन्तान न थी। मेरे पिता जी अपने चाचा जी के साथ नदरई में रहते थे। वहीं भाद्र सुदी १३, मंगलवार संवत् १९३८ वि० (अँगरेजी तारीख ६ सितम्बर १८८१ ई०) को दोपहर को

मेरा जन्म हुआ। मेरी आरंभिक शिक्षा मर्थरा में हुई। फिर 'एटा' में और उच्च शिक्षा अलीगढ़ में। अध्यापन शास्त्र की शिक्षा राजकीय अध्यापन महाविद्यालय प्रयाग में प्राप्त की। मैंने प्रयाग विश्वविद्यालय से अँगरेजी तथा दर्शन में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की है। प्रायः आयु का अधिक भाग अध्यापन कार्य में लगा।

मेरी पत्नी का नाम है श्रीमती कलादेवी। मेरे चार पुत्र हैं :—

(१) डा० सत्यप्रकाश डी० एस० सी० इनकी पत्नी का नाम है श्रीमती रत्नकुमारी एम० ए०।

(२) श्री विश्वप्रकाश, बी० ए० एल-एल० बी० इनकी पत्नी का नाम है श्रीमती मन्दालसादेवी विद्याविनोदिनी।

(३) श्री श्रीप्रकाश एम० एस० सी० इनकी पत्नी का नाम है श्रीमती सुमन सुलोचना एम० ए०।

(४) श्री रविप्रकाश एम० एस० सी० (अभी अविवाहित हैं)

एक पुत्री है :—

श्रीमती सुदक्षिणा एम० ए० एल० टी० इनके पति का नाम है श्री प्रेमबहादुर एस० एस० सी० बी० टी०।

कई पौत्र, पौत्रियाँ, दौहित्र तथा दौहित्री हैं।

मैं आज कल प्रयाग में परिवार के साथ रहता हूँ। मैं अध्ययनकाल से ही ऋषि दयानन्द की शिक्षा का ऋणी हूँ और यथाशक्ति आर्य्यसमाज की सेवा करता रहा हूँ। आर्य्योदयकाव्य को मैंने श्रावण सुदी ६ सं० २००८ बुधवार को समाप्त किया।

इति शुभम्!

मुद्रक—विश्वप्रकाश, कला प्रेस, प्रयाग।

'आर्य्योदय' (पूर्वार्द्ध) पर सम्मतियाँ

उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री, माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी :—

प्रिय गंगाप्रसाद जी,

आपकी पुस्तक मिली। मैं उसे देख गया। इस दृष्टि से मुझे पुस्तक बहुत पसन्द है कि संस्कृत में एक ऐसी पुस्तक लिखी जाय जो भारत के इतिहास का थोड़े में पूरा दर्शन करा दे। मैं यह भी चाहता था कि पुस्तक धर्म की भूमिका में लिखी जाय। आपकी रचना इस दिशा में प्रयास है। इसलिये इसका स्वागत करता हूँ।

लखनऊ
२३-४-५१

भवदीय
सम्पूर्णानन्द

माननीय श्री क० मा० मुंशी :—

१ क्वीन विक्टोरिया रोड,
नई देहली २
२६, अप्रेल, १९५१

श्री भाई

आपका तारीख ११-४-५१ का पत्र तथा साथ में 'आर्योदय' काव्य की एक प्रति मिली। यह सुन्दर रचना अपनी रमणीयता का सर्वोत्तम प्रमाण है। आपका प्रयास प्रथम होता हुआ भी स्तुत्य है। ऐसे प्रकाशन के लिये बधाई।

भवदीय
क० मा० मुन्शी

'आर्य्योदय' (पूर्वार्द्ध) पर सम्मतियाँ

बिहार के राज्यपाल माननीय अणे महोदय :—

Dear Shri Ganga Prasad Upadhyaya,

I am very thankful to you for sending me your Sanskrit poem आर्योदयकाव्यम् which was received some time ago. I read some portions of this great poem and went through the whole of the 4th Canto, stanza by stanza. I also read some of the stanzas of the 7th Canto, which describes the successful fight given by Shri Chattrapati Shivaji Maharaj to emancipate Bharat from the yoke of Aurangzeb The whole plan of your poem is grand and highly patriotic. The story of India's war for emancipation has not been written by foreign historians with any scrupulous regard for truth or with any feeling of genuine sympathy for the Aryas who were being enslaved and tyrannised. Every Indian who has any respect for Vedic culture will certainly welcome the book which you have written. On gaining independence we have entered on the era of the revival of Indian culture. It is therefore very appropriate that you have thought of narrating the story of our fall and rise in Sanskrit verse.

Your poem shows your mastery of Sanskrit language. The lines move smoothly and melodiously. Most lofty sentiments are expressed in simple but elegant style.

I congratulate you on your learned effort to popularize Sanskrit language at this time. The readers of your fluent verses will see that Sanskrit language is as living as any other so-called living language of the civilized world, and it is more powerfull in expressing the deepest emotions of the Indians than any vernacular or foreign language.

With my best regards

Yours sincerely